॥ श्री जैनग्रन्थप्रकाशकसभाग्रन्थांकः ४८ ॥

॥ ॐ श्री अर्हं नमः ॥

सर्वतंत्रस्वतंत्र-शासनसम्राट्-सूरिचक्रचक्रवर्ति-जगद्गुरु-तपागच्छाधिपति-प्रौढप्रभावशालि-तीर्थराजश्रीकदम्बगिरि-प्रभृतिप्रभूततीर्थोद्धारक-शासनप्रभावक-भट्टारकाचार्यमहाराधिराजश्रीविजयनेमिसूरीश्वरसद्गुरुभ्यो नमो नमः

११३६ # ॥ श्रीअनेकान्तव्यवस्थाप्रकरणम् ॥ सं. १०

न्यायविशारद-न्यायाचार्य-निजप्रतिभाप्राग्भारोद्बोधितातीतपूर्वश्रुतकेवलिभगवत्-कूर्चालसरस्वती-पूर्वधरनिकटकालवर्ति-चतुश्चत्वारिंशदुत्तरचतुर्दशशतग्रन्थप्रासादसूत्रधारभगवत्-श्रीहरिभद्रसूरिपुङ्गवलघुबान्धवप्रभृतिविशदबिरुदावली-विभूषित-महामहोपाध्यायश्रीयशोविजयगणिप्रणीतं श्रीजैनतर्केत्यपराभिधानम् ॥

तच्चेदं राजनगर( अहम्मदावाद )स्थ श्रीजैनग्रन्थप्रकाशकसभायाः कार्यवाहकश्रेष्ठि-ईश्वरदासमूलचन्द्रेण भावनगरस्थे प्रसिद्धे महोदयमुद्रणालये तदधिपतिश्रेष्ठि-गुलाबचंद्र लल्लुभाइद्वारा मुद्रयित्वा प्रकाशितम् ॥

वीर निर्वाण सं० २४६९ ] वैशाख शुक्ल ३ अक्षय्यतृतीया [ विक्रम सं० १९९९

॥ मूल्यम् रूप्यकचतुष्टयम् ॥

## ॥ श्री जैनग्रन्थप्रकाशकसभाप्रकाशितग्रन्था: ॥

॥ ॐ ह्रीँ श्री अर्हं सकललब्धिनिधानाय श्रीगौतमस्वामिने नमो नमः ॥

## ॥ श्रीअनेकान्तव्यवस्थाप्रकरणे प्रकाशकीयं निवेदनम् ॥

ए तो सुनिश्चित छे के आ पवित्र भारतवर्षमां आर्यावर्तना विद्वद्वृन्दविभूषित भूभागमां हाल पण अनेकविध साहित्यग्रन्थो उपलभ्यमान छे, परन्तु ते सर्वमां शिरोमणिभावने पामेलुं, बुद्धितत्त्वने खीलवनार, प्रज्ञाना नवनवोन्मेषने वधारनार, वस्तुना यथार्थ भावने–उपनिषद्विचारने–ऐदम्पर्यसारभूततत्त्वने–रहस्यस्वरूपने समजावनार, चौद अथवा अढार विद्यास्थानोमां 'आन्वीक्षिकी विद्या' ए नामथी अग्रणी स्थाने शोभनार, अतीन्द्रिय पदार्थोना अस्तित्वने प्रकाशमां लावनार, निष्पक्ष बुद्धिमानोने सत्य वस्तुग्रहणमां परम साधन जो कोई पण साहित्य होय तो ते तर्कशास्त्र ज छे, जेनुं बीजुं नाम युक्तिवादशास्त्र पण कही शकाय. आ युक्तिवादमां हेत्वाभास–जाति–निग्रहस्थान विगेरे पैकी कोई पण बाधक दोष लागु न पडतो होय ते खास तपासवानुं रहे छे. तर्कशास्त्रोमां नैयायिक–वैशेषिक–सांख्य–वेदान्त–मीमांसक–बौद्धादिना अनेक दर्शनकारोए नानास्वरूपे ग्रन्थो गुंथ्या छे. परन्तु ते सर्व वस्तुना यथार्थ तत्त्वने बाध करनार एकान्त पक्षना ग्राहक होई परस्पर ध्वंसक कंटको ज न होय तेम एक बीजामां कोईमां कोई अने कोईमां कोइ एम जुदा जुदा बाधक दोषोनो सद्भाव अवश्य रह्यो छे, ते ज कारण माटे छेवटे "तर्काप्रतिष्ठानात्" "पुराणं मानवो धर्मः" इत्यादि वाक्यो लखवा पड्या छे. पक्षपातरूपे नहि परन्तु श्री हरिभद्रसूरिपुङ्गव–आदि महापुरुषोनी जेम युक्तिसिद्ध परीक्षित सत्य स्वरूपनो ग्राह्यबुद्धिथी विचार करवामां आवे तो पदार्थमां रहेला परस्पर विरुद्ध धर्मोनो अपेक्षाभेदे समन्वय करावनार सर्वनयसमूहमय त्रिकालाबाध्य जैन तर्कग्रन्थो ज छे तेम कहेवुं ते अतिशयोक्ति भर्युं नथी तेम सौजन्यवंत दरेक सहृदय पुरुषने जणाया विना रहेशे नहि.

ते जैन तर्कग्रन्थो पैकी आ एक '**अनेकान्तव्यवस्था**' ग्रन्थ पण छे जेने पूज्य महर्षि ग्रन्थकार पोते ज 'जैन तर्कग्रन्थ' ए उपनामथी ओळखावे छे. अलभ्य नहि तो पण दुर्लभ्य तो खरो ज, तेवो आ ग्रन्थ सप्तनय–सप्तभङ्गी विगेरे जैनशासनना उपनिषद्–टोच भूत द्रव्यानुयोगना सूक्ष्मविचारोने विस्तारथी स्पष्टीकरण करवापूर्वक जिज्ञासु भव्यजीवोना निर्मल बुद्धि आदर्शमां प्रतिबिम्बित करवा परम तेजःपुञ्जरूप छे. ए तो सुविदित छे के आ महान् प्रभावक ग्रन्थनी रचना करनार विश्ववंद्य, विश्वविख्यात, सर्वानुयोगव्यापि–सर्वदर्शनानुवेधि, कुशाग्र प्रज्ञा पीयूषपाथोधि, निजप्रतिभाप्राग्भारथी अतीतपूर्वश्रुतकेवलिभगवंतोनुं स्मरण करावनार, दाढी–मुछ धारण करती साक्षात्सरस्वती, कूर्चालवेलनी जेम जटिलरूपे ओतप्रोत थयेल सरस्वतीस्वरूप 'कूर्चालसरस्वती' बिरूदविभूषित, पूर्वधरभगवंतोनी विद्यमानताना निकटकालवर्ति विच्छिद्यमान पूर्वमहार्णवना निस्यन्दरूप १४४४ ग्रन्थप्रणेता सुगृहीतनामधेय **भगवंत 'श्रीहरिभद्रसूरिपुङ्गवना लघुबन्धु'** तरीके प्रख्याति पामेला, भारतभूमिभास्कर, सरस्वतीना घररूप काशीमां वादिपरिषद्ने जीतवाथी पंडितमंडळीए समर्पित **न्यायविशारद**–पदविभूषित अने त्यार पछी सो ग्रन्थो बनाववाथी **न्यायाचार्य** पदने धरनार, श्री भगवतीपंचमांगप्रभृतियोगोद्वहनथी प्राप्त थयेल **गणिपद–पण्डितपदना** क्रमथी **महामहोपाध्याय** नामान्तरे **वाचक** पदथी सुशोभित श्रीमान् **यशोविजयजी गणिमहाराज** छे. आ समर्थ ग्रन्थनी रचना करी तेमणे समग्र विश्व उपर अविस्मरणीय असीम उपकार कर्यो छे. जो के उपाध्यायजी भगवान् पोते पोतानी कृतिनो कोई कोई स्थळे ग्रन्थना आदिभागमां अने बहुलताए अन्तिम भागमां स्वगुरुपरम्परानो परिचय आपी साक्षात्कार करावे छे, छतां जेम बहुलताए ग्रन्थावसानमां '**विरह**' ए पद **श्रीहरिभद्रसूरिभगवंतकृतग्रन्थोनुं सूचक** छे तेम बहुलताए श्री उपाध्यायजी भगवंतना ग्रन्थोना प्रारंभमां सरस्वतीनुं बीजक '**ऐँकार**' पद सूचकचिह्नरूपे होय छे. कवित्व

अने वित्त्वनी अभिलाषा पूरवामां कल्पवृक्षतुल्य सरस्वतीनुं बीजक ऐँकारपद छे के जेनो अखंड प्रेमपूर्वक श्रेष्ठ जाप पोते गंगातटे कर्यो हतो, तेम तेओश्रीना वचनो ज साक्षी पूरे छे. जुओ तेमना रचेला न्यायखंडनखंडखाद्य अपरनाम महावीरस्तवप्रकरणनो आद्य श्लोक– "ऐँकारजापवरमाप्य कवित्ववित्त्व–वाञ्छासुरद्रुमुपगङ्गमभङ्गरङ्गम् ॥ सूक्तैर्विकासिकुसुमैस्तव वीरशम्भो–रम्भोजयोश्चरणयोर्वितनोमि पूजाम् ॥ १ ॥" कलिकालसर्वज्ञ श्री हेमचन्द्रसूरीश्वरप्रणीत परिशिष्टपर्ववर्णित श्री जंबूचरित्रनो गूर्जर भाषामां जाणे पद्यात्मक छायानुवाद ज न होय तेम रचेला जंबूस्वामिरासनी मंगळ गाथाओमां पण ते ज भाव जणाव्यो छे. "शारदमात दया करी, आपो वचन तरंग ॥ तुं तुठी मुझ उपरे, जाप करत उपगंग ॥ १ ॥ तर्क काव्यनो तें तदा, दीधो वर अभिराम ॥ भाषा पण करी कल्पतरु, शाखा सम परिणाम ॥ २ ॥" ते जापना अविस्मरणार्थे ज जाणे होय नहि तेम सूचकचिह्न ऐँकारपद तेमणे पोताना अनेक ग्रन्थनी शरूआतमां मूक्युं छे. आ ग्रन्थमां पण ते ऐँकारपद शरूआतमां देखाय छे. आ ग्रन्थना प्रतिपृष्ठे विषयसूचिका करेली होवाथी अलग पृष्ठक्रमे विस्तृत विषयानुक्रमणिका बताववा आवश्यकता नथी छतां संक्षेपे ग्रन्थान्तर्गत विषयदर्शन बताव्युं छे. वस्तुतत्त्वनुं यथार्थ निष्टंकन अनेकान्तवाद मान्या सिवाय थई शकतुं नथी, जेम हरणीयाओने व्याघ्रमुख सुंघवुं अशक्य छे तेम नयलेशरूप परदर्शनना अनुयायीओने अनन्तनयपूर्ण अतिगंभीर अनेकान्तवादगर्भित श्रीजैनदर्शननो स्वल्प गंध लेवो पण शक्य नथी. शुं सूर्यप्रभा उपर खजुआ विगेरे प्रकाशकोनो च्हाय तेटलो प्रभासमूह भेगो थाय तो पण धसारो करी शके खरो ?, जो के प्रतिपृष्ठे बनता सुधी ते ते पृष्ठमां आवतो विषय तेना उपान्त्य भागमां आपवा बनतो प्रयत्न कर्यो छे जेथी वांचनारने सुगम पडे छतां संक्षिप्त विषयविभाग नीचे प्रमाणे छे.

आ **अनेकान्तव्यवस्था ग्रन्थ**मां प्रथम अनेकान्तनुं व्यापक लक्षण बांधी, लक्षणान्तर्गत पदोनो विचार संक्षेपमां करी, तदन्तर्गत

आवती तत्त्वसंख्या संबंधी निष्कर्ष कर्यो छे. प्रसंगसंगतिथी नयोनुं अवतरण–उपक्रम लावी १८ मा पत्र सुधी नैगमनयनो विस्तारथी विचार कर्यो छे. तदन्तर्गत नैगमनयना एकान्तावलम्बि **वैशेषिकदर्शन** जेनुं बीजुं काणाद याने औलूक्यदर्शन छे अने उपलक्षणथी घणा विचारमां तेने अनुसरतुं **न्यायदर्शन** जेना बीजा नाम गौतमीय अगर योगदर्शन छे, तेनी प्रक्रिया देखाडवापूर्वक समीक्षा करी छे. त्यारबाद २७ मा पत्र सुधी संग्रहनय विचार विस्तारथी बतावी तदन्तर्गत एकान्तसंग्रहनयावलम्बि **वेदान्तदर्शन**नी प्रक्रिया बताववा साथे समीक्षा करी छे. ते पछीना ४० मा पत्र सुधी व्यवहारनयनो विस्तारथी स्पष्ट विचार देखाडी तदेकान्तग्राहि–सांख्यदर्शननी समीक्षा करी छे. अहीं विशेषता ए छे के बीजा ग्रन्थमां क्वचिदंशे एकान्तसंग्रहावलम्बि होवाथी सांख्यदर्शन संग्रहनयथी उत्पन्न थयेल बताव्युं छे, जेथी ग्रन्थकार महर्षि पोते ज " **बौद्धानामृजुसूत्रतो मतमभूद्वेदान्तिनां संग्रहात्, सांख्यानां तत एव नैगमनयाद्योगश्च वैशेषिकः । शब्दब्रह्मविदोऽपि शब्दनयतः सर्वैर्नयैर्गुम्फिता, जैनी दृष्टिरितीह सारतरता प्रत्यक्षमुद्वीक्ष्यते ॥ १ ॥** " ( अध्यात्मसार ) " **अद्वैतवादिनां निखिलानि दर्शनानि सांख्यदर्शनं च तदाभासतया ज्ञेयानि** " ( सप्तभङ्गीनयप्रदीप ) ए प्रमाणे लखे छे; ज्यारे आ ग्रन्थ तेमज अन्य ग्रन्थोमां व्यवहारनयमांथी पण सांख्यदर्शनोत्पत्ति बतावी छे, तेनी युक्ति तथा संवाद पाठ पण ग्रन्थकार पोते ज बतावे छे.

द्रव्यार्थिकनयना शुद्ध–अशुद्ध बे विभागो पैकी शुद्धद्रव्यार्थिक संग्रहनय छे, तेना एकान्तावलम्बनथी वेदान्तदर्शननी प्रवृत्ति जणावी छे.

" **जातं द्रव्यार्थिकाच्छुद्धा–दर्शनं ब्रह्मवादिनाम् । तत्रैके शब्दसन्मात्रं, चित्सन्मात्रं परे जगुः ॥ १ ॥** "

अशुद्ध द्रव्यार्थिक व्यवहारनय छे अने तेनुं एकान्तावलम्बि सांख्यदर्शन छे तेम जणावे छे.

" **अशुद्धाद्व्यवहाराख्यात्, ततोऽभूत्सांख्यदर्शनम् । चेतनाचेतनद्रव्या–नन्तपर्यायदर्शकम् ॥ २ ॥** "

आ ज विचारने युक्तिपुरःसर स्पष्ट शब्दोमां जणावे छे के—

“ **सांख्यशास्त्रं च नानात्म–व्यवस्थाव्यवहारकृत् । इत्येतावत्पुरस्कृत्य, विवेकः सम्मतावयम् ॥ ३ ॥** ”

आ बाबतमां वादिगजकेसरि तार्किककदम्बकोटीर–श्रीसिद्धसेन दिवाकरजी महाराज पोते रचेला दर्शनप्रभावक शास्त्र **सम्मति महातर्क** ग्रन्थमां दर्शावे छे के “ **जं काविलं दरिसणं, एयं दव्वट्ठियस्स वत्तव्वं ॥** ” विवरणकार स्पष्ट करे छे के “ **द्रव्यार्थिकपदमत्र व्यवहारलक्षणाशुद्धद्रव्यार्थिकपरं द्रष्टव्यं शुद्धद्रव्यार्थिकप्रकृतेः संग्रहनयरूपाया वेदान्तदर्शनोत्पत्तिमूलताया उक्तत्वात्** ” आ रीते व्यवहारनयनुं विस्तारस्वरूप कह्या पछी ५५ मा पत्र सुधी ऋजुसूत्रनयनो विस्तारथी विचार कर्यो छे. ऋजुसूत्रनयना एकान्तावलम्बि बौद्धदर्शनननी समीक्षा करी छे. पर्यायार्थिक नयरूप वृक्षना मूलस्थानीय ऋजुसूत्रनयने गणी ते वृक्षमांथी नीकळती शाखा प्रशाखा-स्थाने शब्दनय, समभिरूढनय अने एवंभूतनयो छे तेम **सम्मतिमहातर्कग्रन्थना** पाठथी सिद्ध थता शब्दादि नयोनुं मूळ भेदपणुं ऊडी जाय अने तेम मानता ‘ **सत्त मूलणया पण्णत्ता** ’ ए सूत्रविरोधापत्ति आवी पडे छे. ते शंकानुं अबाधित युक्तिपुरःसर घणी ज स्पष्टताथी निरसन कर्युं छे, तदन्तर्गत दिगम्बराभिमत मूळ नयोनी नव संख्यामां युक्ति तथा सिद्धान्तबाधितपणुं विगेरे दोषो बतावी पूज्य ग्रन्थकार उपाध्यायजी महाराज विशेष जिज्ञासुओने पोते रचेला “ **आपभ्रांशिकप्रबन्ध** ” नामना ग्रन्थनी भलामण करे छे ते प्रबन्ध ग्रन्थ “ **दिक्पटकपटकुठार** ” नामनो दिगंबरोना सूत्रविरुद्ध विसंवादि चोर्याशी बोलोना खण्डननो जे ग्रन्थ बनाव्यो छे ते ज होवा संभव छे; कारण “ **दिक्पटकपटनाटकमपास्तमापभ्रांशिकप्रबन्धेऽस्माभिः** ” ए वाक्यथी ते ग्रन्थनो विषय बताव्यो छे ते तेमां पूरेपूरो मळतो आवे छे तेमज भाषा पण अपभ्रंशने लगती ज छे. मात्र तेमां ‘ आपभ्रांशिक प्रबन्ध ’ एवुं नाम न जणायाथी अमोए

संभव शब्द वापर्यो छे. कोई महाशय पासे उपाध्यायजीकृत आपभ्रांशिक प्रबन्ध अलग ग्रन्थ होय अगर जाणमां होय तो जणाववा अनुग्रह करशे. अमो तेओनो आभार मानीशुं. प्रस्तुत विचार माटे ते दिक्पटकपटकुठार ग्रन्थमां जणावे छे के "तत्त्वार्थसूत्रमां (दिगम्बरो पण जेने केटलाक सूत्रोना फेरफार साथे मान्य गणे छे) पण सात नयो कह्या छतां दिगंबर देवसेनीय नयचक्रमां द्रव्यार्थिक विगेरे नव नयो कई रीते इष्ट गण्या ते समजातुं नथी, जो के तत्त्वसंख्यामां आपेक्षिक सात–नव संख्याभेदो छे, परन्तु नय भेदो माटे सात–नव भिन्न संख्या कहेवामां तेवुं कोई कारण नथी, कदाच हठवादथी द्रव्यार्थ अने पर्यायार्थ नय ए बे भेदो अलग पाडी नव संख्या मानवी ज होय तो अर्पित–अनर्पित ए बे भेदो पण अलग करी शकाय छे अने ते रीते अगियार भेदो न मानवामां विनिगमक शुं छे? कदाच कहेशो के अर्पित–अनर्पित ए भेदो संग्रहव्यवहारमां अन्तर्गत करी शकाय छे माटे अलग मानवामां कांई कारण नथी तो नैगमादि त्रण अथवा चारमां द्रव्यार्थनो अने बाकीनामां पर्यायार्थनो पण अन्तर्भाव थइ शके छे अने पूर्वपुरुषोए ते करेलो पण छे छतां अलग गणवा तेमां हठवाद सिवाय बीजुं शुं कारण होई शके ?, तेमज नयना अंशरूप उपनयो पण भिन्न होई शकता नथी. जो तेम मानवामां आवे तो प्रमाणना अंशरूप उपप्रमाण पण मानवा जोइये" इत्यादि अनेक विचारो छे. ते पाठ नीचे प्रमाणे छे—

**"नव ही नय नयचक्रमें, द्रव्यारथ मुख इट्ठ । तत्त्वारथमां सात है, देवसेन कहां दिट्ठ ॥ १ ॥ तत्त्व सात नव ज्युं कहे, त्यों नहि नयकी बात । एहुं विभक्त विभाग है, सो तो कारन जात ॥ २ ॥ जो हठते नव नय कहो, गहत द्रव्य परजाय । अप्पियणप्पियभेदतें, एकादश हुइ जाय ॥ ३ ॥ जो संग्रह व्यवहार में, अप्पियणप्पिय इट्ठ । आदि अंत नयथोकमें, पज्जवदव्व निविट्ठ ॥ ४ ॥ उपनय नयको अंश है, कहे विभिन्न कुवंश । उपप्रमाण माने नहीं, क्यों प्रमाणको अंश ॥ ५ ॥"**

इत्यादि पद्यो आपेला छे. आ विचारोनी अनन्तर सौत्रान्तिक–वैभाषिक–योगाचार अने माध्यमिक ए चारेय एकान्तरूपे सूक्ष्म–सूक्ष्मतर–सूक्ष्मतमादि विचारमां उतरेला बौद्धोना भेदोनुं टुंकाणमां मन्तव्य बतावी बौद्धमतना मूल कारणरूपे ऋजुसूत्र नय होवा छतां ते ते भेदनी कया कया नयथी उत्पत्ति थई छे तेनो पण विचार करवा साथे तेओना पूर्वपक्ष समाधानादिनो संक्षेप विचार करी विस्तार विचार माटे **श्रीसम्मतितर्क तथा शास्त्रवार्त्तासमुच्चयवृत्ति स्याद्वादकल्पलतानी** भलामण आपी छे.

ते पछीना ६५ मा पत्र सुधी शब्दादि त्रण नयोनुं विस्तारथी स्वरूप अने अवान्तर सप्तभंगी अर्थनय–शब्दनयाश्रित स्वरूप विगेरे अनेक विचारो दर्शाव्या छे. त्यार बाद ७४ मा पत्र सुधीमां सप्तभंगीना दरेक भंगोनुं विस्तारस्वरूप, नयोमां सप्तभंगीनो समवतार, तृतीय भंगनो लंबाण विचार, ते माटे १६ विकल्पो, **पूज्य पूर्वधर श्रीमल्लवादि भगवंत** विगेरे महापुरुषोए बतावेल सप्तभंगीना दरेक भंगोना प्रतिभंगो गणतां प्रथम भंगना ३, द्वितीय भंगना ३, तृतीय भंगना १०, चतुर्थ भंगना १०, पंचम भंगना १३०, षष्ठ भंगना १३० अने सप्तम भंगना १३० कुल संकलनाए मध्यम विचारथी ४१६ भंगो, वली तेना पण अवान्तर भंगोनी उत्तरोत्तर विचारणाए १४३६ संख्या अने सांयोगिक भंगादिनी गणतरीए कोटिशः संख्या थाय छे विगेरे दिग्दर्शन करावी ते भंगसंख्या जाणवानी जिज्ञासा उपजाववा साथे तेना विस्तार अवबोधने अंगे ते ते ग्रन्थोनी भलामण आपी छे, आठमा विगेरे भंगो केम न थई शके ? ते संबंधमां पर-वादिकृत शंकानुं युक्तिपुरःसर समाधान विगेरे अनेक विचारो बताव्या पछी ग्रन्थनी पूर्णता सुधीमां अनेकान्तात्मक वस्तु एज नय तथा प्रमाणनो विषय थई शके छे, व्यञ्जनपर्याय अने अर्थपर्यायनुं स्वरूप, द्रव्य गुणना भेदाभेद स्वरूपनुं व्यवस्थापन, त्रीजो गुणार्थिक-नय सिद्ध थई शकतो नथी तेनुं घणी ज दलीलो साथे पारमर्ष पाठोना समन्वयपूर्वक खंडन कर्युं छे. दिगंबरप्रक्रियानुसार सामान्य–

विशेष गुणसंख्या, सामान्य–विशेष स्वभावो, अनेकान्तवादमां ज तेनुं यथार्थ घटवुं, द्रव्यार्थिकना १० भेदो, पर्यायार्थिकना ६ भेदो, नयोपनय भेद विचारो, नैगमना ३, संग्रहना २, व्यवहारना २, ऋजुसूत्रना २, शब्द–समभिरूढ–एवंभूत ए त्रणेना प्रत्येकना एक एक एम सर्व संकलनाए सर्व मळी २८ भेदो, उपनयमां सद्भूत–असद्भूतव्यवहारना शुद्धाशुद्धादि–उपचरितानुपचरितादि भेदोनुं वर्णन, नयोपनयनी स्वभावोमां योजना विगेरे दिगंबरप्रक्रियानुं विस्तारस्वरूप बतावी दिशासूचनरूपे क्रमशः युक्ति पूर्वक खंडन कर्युं छे. **दिगंबर अमृतचन्द्रसूरिकृत प्रवचनसारवृत्तिमां** आपेल पर्यायविचारोनी खंडनदिशा विगेरे प्रदर्शन करी, द्रव्यपर्यायोना एकान्तभेदवादि मतनुं पूर्वपक्ष निरूपणपूर्वक युक्तिपुरःसरखंडन, तेवी ज रीते एकान्त अभेदवादि मतनुं पण खंडन, एकान्त द्रव्यवादिमतनुं खंडन, अनेकान्तमां अनेकान्त स्वीकारतां घटाभावनो अभाव जेम घटस्वरूप छे तेम एकान्तपक्षापत्तिदोषनो तथा प्रमेयत्व विगेरे दृष्टान्तोथी अनवस्था विगेरे दोषोनो उद्धार तथा अनेकान्तनुं विश्वव्यापकत्व, सर्वदर्शनसम्मतत्व समर्थन घणा ज विस्तारथी करी अनेकान्तमाहात्म्य निरूपण करी अन्तिमोपदेश आप्यो छे. छेवटना ग्रन्थसमाप्ति प्रशस्ति पद्योमां सर्व दर्शनोए अनेकान्त स्वीकार्यो छे ते स्पष्ट करी आप्युं छे. आ ग्रन्थकारनी ग्रन्थग्रथनशैलीमां अद्भुतता ए छे के दरेक दार्शनिक विचारो प्रायः ते ते दर्शननी प्रक्रिया स्पष्टतया विस्तारथी बताववापूर्वक ज तेनी समीक्षा (निरसन) करे छे. तेमज दरेक विचारो अबाधित युक्तिपुरःसर होवा छतां तेने संगत संवाद–साक्षिपाठो आप्या विना रहेता नथी. एक धर्मपरीक्षा वृत्ति जेवा ग्रन्थमां पण लगभग ५५० साढी पांचसो उपरान्त संवादपाठो मूक्या छे तेवीज रीते आ ग्रन्थमां पण पोणोसो उपरांत **महाभाष्यना**, ६० लगभग **सम्मति महातर्क ग्रन्थना** अने बीजा मळी लगभग २५० अढीसो संवादपाठो मूकेला छे जेनी सूचिका पण आ साथे छे ते जोवा सुज्ञवाचकवर्गने प्रार्थना छे. वळी विशेष

उपाध्यायजी भगवंतनी ग्रन्थसन्दर्भ शैलिमां विशिष्टता ए छे के–बहुलताए प्राचीन पूज्यतम पुरुषोना वचन तथा अर्थानुसरणने अवलंबीने ज ते प्रवर्ते छे तेमां रहेली अपूर्वता पूज्यपुरुषोना वचनोनो समन्वय आदि नवीनता विगेरे विकसित बुद्धि प्रतिभाशालिओने-ज ते तरी आवे छे, वळी तेवा प्रतिभाशालि पुरुषोना तीव्र क्षयोपशमानुसारे गुंथाएल ग्रन्थमालामां शब्द तथा अर्थानुसरण जेवुं कुदरते नैसर्गिक–साहजिक पण आवी शके छे तेथी ते पूज्यभगवंतनी अमाप प्रज्ञानुं माप करवा मथवुं–तेनी परीक्षामां ऊतरवुं ते आपणा जेवा पामरोनी बुद्धिनी कींमत अंकाववा जेवुं अने "**प्रांशुलभ्ये फले मोहा–दुद्बाहुरिव वामनः**" जेवी स्थिति सूचवनारुं छे.

आ श्री अनेकान्त व्यवस्था प्रकरण तेमज अमारा तरफथी बहार पडेला प्रायः घणा ग्रन्थोना संशोधनकार्यमां प्राच्य तथा नव्य-न्यायनिष्णात, जगत्कर्तृत्ववादनिरासात्मक 'जगत्कर्तृत्वमीमांसा' 'अयोगव्यवच्छेदद्वात्रिंशिकाविवृति' तथा 'धर्मपरीक्षा वृत्तिटिप्पण' आदि ग्रन्थोना प्रणेता **मुनिराजश्री शिवानन्दविजयजी महाराजश्रीए** सहाय करी छे. जेमना ग्रन्थो पैकी नव्यन्यायशैलीए सिद्धान्तना संवाद पाठोयुक्त विद्वत्तापूर्ण धर्मपरीक्षा वृत्तिटिप्पण के जेनो अमुक भाग हालमां ज अमारा तरफथी बहार पडेल **सटीक धर्मपरीक्षा** ग्रन्थ साथे प्रकाशित थयो छे. संपूर्ण टिप्पण प्रकाशित करवा इच्छा छतां प्रेसनी अगवडता विगेरे कारणोए शेष भाग बहार पाडी शक्या नथी. आशा छे के–ते बाकीनो भाग पण बहार पाडवा भाग्यशालि बनीशुं. आ ग्रन्थ प्रकाशमां मूकतां अमोने घणो ज आनन्द थाय छे के जेनी हस्तलिखित अलभ्य प्रायः प्रतिओने लईने अनेक भव्यात्माओ जिज्ञासुओ छतां लाभ मेळवी शकता नहोता ते आ प्रकाशनथी लाभ लई तत्त्वज्ञान उपार्जी अनुक्रमे सिद्धिसुखना सत्पात्र बनशे.

शुभं भूयात् श्रीश्रमणसंघस्य

**श्री जैनग्रन्थप्रकाशक सभा–अमदावाद.**

॥ श्रीगौतमस्वामिने नमः ॥

# ॥ श्रीअनेकान्तव्यवस्थाने अंगे किंचिद् वक्तव्य ॥

शास्त्रोमां कोई पण शास्त्र विशिष्ट ने कठीन होय तो ते तर्कशास्त्र छे. तर्कविद्या तीक्ष्णबुद्धिथी ग्रहण थाय छे. ते समजवा माटे एकाग्रता अने स्थिरतानी आवश्यकता रहे छे. तर्कविषयक लखाणमां बे पद्धति जोवामां आवे छे. एक विकल्पपरम्परानी गुंथणीथी जटिल अने बीजी अवच्छेदकावच्छिन्ननी अविच्छिन्नधाराथी गहन, आ बन्ने पद्धतिओ अनुक्रमे प्राचीन पद्धति अने नवीन पद्धति एवा अभिधानथी ओळखाय छे.

दरेक दर्शनने न्याय-तर्क-युक्तिनी आवश्यकता रहे छे. जनताने स्वाभिमत सिद्धान्त समजाववा माटे दलील जरूरी छे. दर्शनान्तरना विद्वानो साथे चर्चा आदि प्रसंगे ते ते समये प्रचलित न्याय पद्धति तथा विवेचन शैली जाणवी जोईए. नहिं तो स्वदर्शन—दर्शनान्तर समक्ष निर्बळ अने फीक्कुं भासे छे. पंदरमी शताब्दी सुधी तर्कवादमां प्राचीन पद्धतिनी प्रबलता हती. लखवामां ने वादमां विकल्पजाळनुं जोर विशेष जणातुं. **आर्हतदर्शने** ते पद्धतिमां मजबूत टक्कर झीली हती ने स्वसिद्धान्तो चोमेर फेलावी बीलकूल झांखा पडवा दीधा न हता. सोळमी शताब्दीथी नवीन पद्धतिनो प्रचार वधवा लाग्यो. न्यायदर्शनना विशिष्टग्रन्थ **चिन्तामणिना कर्ता गंगेशोपाध्याये** नवीन पद्धतिनो प्रारंभ कर्यो. पक्षधरमिश्र—दीधितिकार रघुनाथशिरोमणि आदिए ते पद्धति विशेष प्रकाशमां मूकी, जगदीशभट्टाचार्य अने गदाधरभट्टाचार्यना समयमां ते पद्धतिनुं प्रभुत्व खूब जामी गयुं हतुं ते समये आर्हत दर्शनमां ते पद्धतिना परिचयनी जरूर हती. तेनो सारी रीते परिचय करी. विशद रीतिए लखवानो ने विवेचनमां मूकवानो यश **न्यायविशारद न्यायाचार्य**

**उपाध्यायजी महाराजश्री यशोविजयजी महाराजने** मळे छे.

न्याय विचारोनुं पूर्ण अध्ययन करी न्यायनी बन्ने शैलीथी जैन दर्शनना सिद्धान्तो स्पष्टपणे निरूपवामां उपाध्यायजी महाराजे नवीन न्यायपद्धतिने आत्मसात् न करी होत तो जैनदर्शन बौद्धदर्शननी जेम पछात रही गयुं होत. आज आ पद्धतिमां पण जैनदर्शननी जे उन्नति देखाय छे ते न देखात. अनेकान्तव्यवस्था प्रकरण अथवा जैनतर्क ए एमनो प्राचीन अने नवीन पद्धतिना मिश्रणथी लखायेल न्यायनो ग्रन्थ छे. " जेम हरणीयुं वाघना मुखने सुंघवा पण समर्थ न थाय तेम अनन्तनयथी भरपूर अतिगंभीर जिनमत नयना अंशने जाणनारवडे सुंघवाने पण शक्य नथी. प्रमाण अने नयथी सिद्ध एवा जिनमतने दूषित करवा प्रयत्न करवो ए पोतानी बुद्धिनुं ज विडम्बन छे," ए प्रमाणे ग्रन्थना प्रारंभमां लखी स्याद्वाद प्रत्ये पोतानो अद्वितीय विश्वास ग्रन्थकार प्रकट करे छे. दरेक दर्शनो अनेकान्तवादमांथी छूटा पड्या छे ने एक अथवा बीजी रीतिए दरेक दर्शनोने अनेकान्तवाद अंगीकार करवो पडे छे ते विषय प्रधानतया सात नयनुं स्वरूप बतावता सचोटपणे उपाध्यायजी महाराजे प्रस्तुत ग्रन्थमां प्ररूप्यो छे. ते सम्बन्धि उपसंहारना सूक्तो नीचे प्रमाणे छे.

**" दर्शितेयं यथाशास्त्रं, नैगमस्य नयस्य दिक् । कणादृष्टिहेतुः श्री-यशोविजयवाचकैः ॥ १ ॥ दर्शितेयं यथाशास्त्रं, सङ्ग्रहस्य नयस्य दिग् । वेदान्तराद्धान्तहेतु-र्यशोविजयवाचकैः ॥ २ ॥ दर्शितेयं यथाशास्त्रं, व्यवहारनयस्य दिग् । सांख्यसिद्धान्तहेतुः श्री-यशोविजयवाचकैः ॥३॥ दर्शितेयं यथाशास्त्र-मृजुसूत्रनयस्य दिग् । बौद्धसिद्धान्तहेतुः श्री-यशोविजयवाचकैः॥४॥**

आ ग्रन्थमां दरेक पृष्ठ पर आपेल विषयसूचनथी ग्रन्थ वांचवाने अने विषयशोधन करवाने विशेष अनुकूळता छे.

जेम भाष्यकार—**जिनभद्रगणि क्षमाक्षमण,** संग्रहकार वाचकप्रवर **उमास्वातिजी महाराज,** महातार्किक **श्री सिद्धसेनदिवाकर,**

चौदसो चुम्मालीस ग्रन्थसूत्रण सूत्रधार **श्री हरिभद्रसूरिजी महाराज** आदिनी उपर उपाध्यायजी महाराजने प्रेमभक्ति हती तेम कलिकालसर्वज्ञ **श्री हेमचन्द्रसूरिजी महाराज** प्रत्ये पण सम्पूर्ण बहुमान अने भक्ति हता ए आ ग्रन्थमां आवता स्थळे स्थळे " **तदुक्तं प्रभुश्री हेमचन्द्रसूरिभिः** " वगेरे वचनोथी पूरवार थाय छे.

आ ग्रन्थ उपाध्यायजी महाराजनुं इतर दर्शनोमां पण केटलुं ऊंडुं अवगाहन हतुं ते सिद्ध करतां ते ते दर्शनोना मौलिक श्रुति–स्मृति वगेरे ग्रन्थोथी लईने विवेचन पर्यन्तना सर्व ग्रन्थो तेओश्रीए अवलोक्यां हतां ने तेना विषय तेओश्रीने सारी रीते उपस्थित हता ए समजावे छे.

आ ग्रन्थ वांचवाने अने समजवा माटे ते ते दर्शनोनो अने जैनदर्शननो सारो परिचय करवो आवश्यक छे.

उपाध्यायजी महाराजे सेंकडो ग्रन्थो गुंथ्या छे तेमांना केटलाएक ग्रन्थोना नाममात्रथी ज आपणे संतोष अनुभववानो छे. '**अष्टसहस्री**' ग्रन्थनी एकज प्रति डॅकन कोलेजना पुस्तकसंग्रहमां छे तेम पूज्यपाद परमोपकारि प्रातःस्मरणीय सूरिचक्रचक्रवर्ति शासनसम्राद् सर्वतंत्रस्वतंत्र अमारा परमगुरु गुरुमहाराज **श्रीविजयनेमिसूरीश्वरजी महाराजश्रीना** लक्ष्यमां आवता तेनी नकल करावी लेवा उपदेश आप्यो यावत् ते '**श्रीजैनग्रन्थप्रकाशक सभा**' तरफथी प्रसिद्ध थतां आजे ते ग्रन्थनुं दर्शन करवा आपणे भाग्यशाली थया छीए, ते प्रमाणे आ ग्रन्थनी पण एक बे प्रतिओ ज हस्तलिखित प्राप्त थती हती. आजे सद्भाग्ये तेनुं पण 'श्री जैनग्रन्थ प्रकाशक सभा' तरफथी प्रकाशन थयुं एटले हवेथी आ ग्रन्थना नामथी ज नहिं पण साक्षात् ग्रन्थना दर्शन करी आनन्दमां अभिवृद्धि करीए एज—

लि० **मुनि धुरन्धरविजय**

॥ ॐ अर्हं नमः ॥

# ॥ अनेकान्तव्यवस्थाग्रन्थान्तर्गतसाक्ष्यपाठानुक्रमणिका ॥


| गाथाऽऽद्यपादः | ग्रन्थनाम | पत्र | पृ. | पं. |
| --- | --- | --- | --- | --- |
| जीवाजीवाश्रवबन्ध- | तत्त्वार्थसूत्र अ० १ सू. ४ | १ | १ | ८ |
| इत्येष सप्तविधोऽर्थ- | तत्त्वार्थभाष्य | १ | १ | ११ |
| प्रमाणप्रमेय इत्यादि | गौतमसूत्र | २ | १ | १३ |
| ते हुंति परावेक्खा | भाषारहस्य | ३ | १ | ६ |
| दोहि वि णएहि णीयं | महाभाष्य, सम्मति | ४ | १ | १३ |
| सच्चैतन्यमात्मनि | आकर(प्रमाणनय- | ४ | २ | ८ |
| वस्तुपर्यायवद् द्रव्यम् | तत्त्वालोकालंकार- | ४ | २ | ९ |
| क्षणमेकं सुखी | परिच्छेद७सू०८,९,१०) | ४ | २ | १० |
| जीवो गुणपडिवन्नो | आवश्यकनिर्युक्ति | ५ | १ | २ |
| आदावन्ते च यन्नास्ति | अध्यात्मोपनिषद् | ५ | १ | ४ |
| इच्छइ जं दव्वनओ | विशेषा० भाष्य० | ५ | १ | ९ |
| पज्जाओ च्चिय वत्थुं | ,, ,, | ५ | १ | १० |
| पज्जायनयमयमिणं | ,, ,, | ५ | १ | १२ |
| जह रूवाइविसिट्ठो | विशेषा० भाष्य० | ५ | १ | १३ |
| उप्पज्जंति वियंति य | आवश्यकनिर्युक्ति | ५ | २ | ८ |
| उप्पायविगमपरिणा- | विशेषा० भाष्य | ६ | १ | २ |
| ते जप्पभवा जं वा | ,, ,, | ६ | १ | २ |
| आहावक्खाणमिदं | ,, ,, | ६ | १ | ४ |
| उप्पायाइसहावा | ,, ,, | ६ | १ | ४ |
| जीवस्स य सामाइयं | ,, ,, | ६ | १ | ५ |
| जइ पज्जायनउ च्चिय | ,, ,, | ६ | १ | १४ |
| इच्छइ सो तेणोभय- | ,, ,, | ६ | २ | १ |
| एगत्ते नणु दव्वं | ,, ,, | ६ | २ | १ |
| जइ भिन्नोभयगाही | ,, ,, | ६ | २ | २ |
| तम्हा किं सामइयं | ,, ,, | ६ | २ | ३ |
| इहरा जीवाणन्नं | ,, ,, | ६ | २ | ४ |

| गाथाऽऽद्यपादः | ग्रन्थनाम | पत्र | पृ. | पं. |
|---|---|---|---|---|
| सो चेव पज्जवट्ठिय- | विशेषा० भाष्य० | ७ | २ | ७ |
| नणु भणियं पज्जाय- | ,, ,, | ७ | २ | ८ |
| उप्पायभङ्गुराणं | ,, ,, | ७ | २ | १२ |
| तम्मेयकप्पणाओ | ,, ,, | ७ | २ | १२ |
| उप्पायभंगुरा जं, | ,, ,, | ८ | १ | १२ |
| बीयस्स दव्वमेत्तं | ,, ,, | ८ | २ | ४ |
| आविब्भावतिरोभाव- | ,, ,, | ८ | २ | ५ |
| जं जं जे जे भावे | ,, ,, | ८ | २ | ११ |
| जं जाहे जं भावं | ,, ,, | ९ | २ | ३ |
| न सुवण्णादन्नं कुंडल- | ,, ,, | ९ | २ | ६ |
| जइ वा दव्वादन्ने | ,, ,, | ९ | २ | १० |
| जइ पज्जवोवयारो | ,, ,, | १० | १ | २ |
| दव्वपरिणाममित्तं | ,, ,, | १० | १ | ७ |
| दव्वट्ठियनयपयडी | सम्मति | १० | २ | ४ |
| पुरुष एवेदं सर्वम् | श्रुति ( वेद ) | १० | २ | १३ |
| ऊर्ध्वमूलमधःशाखम् | गीता | १० | २ | १३ |
| स्वतोऽनुवृत्तिव्यतिवृत्ति- | अन्ययोग० द्वात्रिं० | १७ | १ | ५ |
| अनन्तधर्मात्मकमेव तत्त्व- | ,, ,, | १८ | १ | ११ |
| संगृहीतपिण्डार्थं | आगम | १८ | २ | ३ |
| कुंभो भावाणन्नो | विशे० भाष्य | १८ | २ | १० |
| चूओ वणस्सइ च्चिय | ,, ,, | १८ | २ | ११ |
| अस्त्यर्थः सर्वशब्दानां | वाक्यपदीय | १८ | २ | १४ |
| घटादीनां न चाकारान् | ,, | १९ | १ | १ |
| वेदात्मशक्तिं स्वगुणैः | श्रुति | १९ | १ | ४ |
| अजामेकां लोहित- | ,, | १९ | १ | ६ |
| यः सर्वज्ञः स सर्ववित् | ,, | १९ | १ | ८ |
| इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप- | ,, | १९ | १ | ११ |
| एष सर्वेश्वरः | ,, | १९ | २ | २ |
| शिवमद्वैतं चातुर्थं | ,, | १९ | २ | ३ |
| विक्षेपशक्तिर्लिङ्गादि- | ,, | १९ | २ | ९ |
| एतस्मादात्मन आकाशः | ,, | १९ | २ | १२ |
| प्रविभक्तभुक् | ,, | २० | २ | १ |
| जागरितस्थानो | ,, | २१ | १ | १ |
| सामानाधिकरण्यं च | ,, | २१ | २ | २ |

| | | | | |
|---|---|---|---|---|
| फलव्याप्यत्वमेवास्य | | २२ | २ | ४ |
| न यावत्सममभ्यस्तौ | वसिष्ठवाक्य | २२ | २ | ८ |
| प्रतिपाद्यस्याद्वितीय | छान्दोग्योपनिषद् | २३ | १ | ३ |
| अद्वितीयवस्तुन | ,, | २३ | १ | ५ |
| अद्वितीयवस्तुनो | ,, | २३ | १ | ६ |
| आचार्यवान् पुरुषो | ,, | २३ | १ | ७ |
| येनाश्रुतं श्रुतं | ,, | २३ | १ | ८ |
| यथा सौम्यैकेन | ,, | २३ | १ | १० |
| दृशिस्वरूपं गगनोपमं | ,, | २३ | १ | १४ |
| यमनियमासनप्राणा | पातंजलयोगदर्शन | २३ | २ | ४ |
| लये संबोधयेच्चित्तं | | २३ | २ | १३ |
| अचक्षुरचक्षुरिव | श्रुति | २४ | १ | ४ |
| बुद्धाद्वैतसतत्त्वस्य | ,, | २४ | १ | ५ |
| उत्पन्नात्मावबोधस्य | ,, | २४ | १ | ७ |
| न तस्य प्राणा उत्क्राम० | श्रुति | २४ | १ | १० |
| अव्यावृत्ताननुगतं | वार्तिक | २४ | २ | ८ |
| न निरोधो न चोत्पत्ति | श्रुति | २४ | २ | १२ |
| तस्याभिध्यानाद्योजनात् | ,, | २५ | २ | ८ |
| माया सती चेद्द्वयतत्त्व- | अन्ययोग० द्वात्रिंशिका | २६ | १ | ३ |
| सच्चिदानन्दरूपं | श्रुति | २६ | १ | १२ |
| जे एगं जाणइ | आचारांग | २६ | २ | १ |
| सवियप्पणिव्वियप्पं | सम्मति | २६ | २ | ११ |
| वच्चइ विणिच्छियत्थं | विशे० भाष्य० | २७ | २ | ११ |
| यथा कटकशब्दार्थः | ,, | २८ | १ | ३ |
| पज्जवणयवुक्कंतं | सम्मति | २८ | १ | ९ |
| दव्वट्ठियोत्ति तम्हा | ,, | २८ | २ | ३ |
| दव्वट्ठियवत्तव्वं | ,, | २८ | २ | ७ |
| उप्पज्जंति वयंति य | ,, | २८ | २ | ९ |
| दव्वं पज्जवविजुयं | ,, | २९ | १ | १ |
| एए पुण संगहओ | ,, | २९ | १ | २ |
| ण य तइओ अत्थि णओ | ,, | २९ | १ | ३ |
| जह एए तह अण्णे | ,, | २९ | १ | ४ |
| सव्वणयसमूहम्मि वि | सम्मति | २९ | १ | ५ |
| तम्हा सव्वे वि णया | ,, | २९ | १ | ७ |
| जहऽणेगलक्खणगुणा | ,, | २९ | २ | ८ |
| तह णिययवायसुविणि- | ,, | २९ | २ | ११ |

| | | | | |
|---|---|---|---|---|
| जह पुण ते चेव मणी | ,, | ३० | १ | १ |
| तह सव्वे णयवाया | ,, | ३० | १ | ५ |
| लोइयपरिच्छियसुहो | ,, | ३० | १ | ११ |
| इहरा समूहसिद्धो | ,, | ३० | २ | ७ |
| णिययवयणिज्जसच्चा | ,, | ३० | २ | १३ |
| सदेव सत्स्यात्सदिति | अन्ययोग० द्वात्रिंशिका | ३१ | १ | ७ |
| जं काविलं दरिसणं | सम्मति | ३१ | २ | ३ |
| प्रकृतेर्महाँस्ततोऽहङ्कारः | सांख्यकारिका | ३१ | २ | ९ |
| पञ्चविंशतितत्त्वज्ञो | ,, | ३१ | २ | १३ |
| त्रिगुणमविवेकिविषयः | ,, | ३२ | १ | ७ |
| हेतुमदनित्यमव्यापि | ,, | ३२ | १ | ९ |
| असदकरणादुपादान- | ,, | ३२ | २ | ८ |
| कार्यस्यैव न योगाच्च | ,, | ३३ | १ | ९ |
| भेदानां परिणामात् | सांख्यकारिका | ३३ | १ | १३ |
| मूलप्रकृतिरविकृति- | ,, | ३४ | १ | ४ |
| यदेव दधि तत्क्षीरं | | ३४ | १ | ७ |
| न सदकरणादुपादान- | सांख्यकारिका | ३५ | १ | ८ |
| अवधीनामनिष्पत्ते- | | ३६ | १ | १३ |
| लिङ्गलिङ्गिधियोरेवं | | ३७ | २ | ३ |
| चैतन्यं पुरुषस्य | | ३८ | १ | १२ |
| पुरुषस्य दर्शनार्थं | सांख्यकारिका | ३८ | २ | ९ |
| तस्यैव व्यभिचारादौ | | ३९ | १ | १४ |
| वत्सविवृद्धिनिमित्तं | ,, | ३९ | २ | २ |
| उज्जुं ऋजुं सुयं नाणं | विशेषा० भाष्य० | ४० | १ | ३ |
| तम्हा णिययं संपई | ,, ,, | ४० | १ | ११ |
| पलालं न दहत्यग्नि- | | ४० | १ | १३ |
| क्वचित्तदपरिज्ञानं | | ४० | २ | ४ |
| तत्रापूर्वार्थविज्ञानं | | ४० | २ | ८ |
| न हि स्मरणतो यत् प्राक् | श्लोक ३ | ४० | २ | १० |
| इदानीन्तनमस्तित्वं | | ४० | २ | १४ |
| भावान्तरविनिर्मुक्तो | | ४१ | १ | ११ |
| कः शोभेत वदन्नेवं | श्लोक ३ | ४३ | २ | ५ |
| अनष्टाज्जायते कार्यं | | ४४ | २ | ७ |
| यदि तुलान्तकयो | | ४४ | २ | ९ |
| भावे ह्येवं विकल्पः स्यात् | | ४५ | १ | २ |
| दृष्टस्तावदयं घटोऽत्र निपतन् | | ४८ | १ | ८ |

| | | | | |
|---|---|---|---|---|
| स्वभावोऽपि स तस्येत्थं | | ४९ | १ | १३ |
| जातस्य च स्वभायस्य | सौगताः | ४९ | २ | ११ |
| अदृष्टेऽर्थे विकल्पनमात्रम् | सौगताचार्यैः | ५० | १ | ८ |
| ग्राह्यग्राहकसंवित्ति- | ,, | ५२ | १ | १ |
| मूलनिमाणं पज्जव | सम्मति | ५४ | १ | ९ |
| सत्त मूलणया पन्नत्ता- | सूत्र | ५४ | २ | ८ |
| सवणं सपइ स तेणं | विशेषा० भाष्य० | ५५ | २ | ४ |
| इच्छइ विसेसियतरं | आवश्यकनिर्युक्ति | ५५ | २ | ५ |
| तं चिय रिउसुत्तमयं | विशेषा० भाष्य | ५५ | २ | ५ |
| नामादओ न कुंभा | ,, ,, | ५५ | २ | ११ |
| जइ विगयाणुप्पन्ना | ,, ,, | ५६ | १ | ३ |
| अहवा पच्चुप्पन्नो | ,, ,, | ५६ | १ | ७ |
| सब्भावासब्भावो | ,, ,, | ५६ | १ | ८ |
| एवं सत्तवियप्पो | सम्मति | ५७ | २ | ८ |
| वत्थुविसेसओ वा. | विशेषा० भाष्य | ५८ | १ | १ |
| घणिमेयाओ मेओ | ,, ,, | ५८ | १ | ४ |
| तो भावो च्चिय वत्थु | ,, ,, | ५८ | १ | १० |
| विरोधिलिङ्गसङ्ख्यादि- | | ५८ | २ | १० |
| जं जं सण्णं भासइ | विशेषा० भाष्य | ५८ | २ | १३ |
| वत्थुओ संकमणं | आवश्यकनिर्युक्ति | ५९ | १ | २ |
| दव्वं पज्जाओ वा | विशेषा० भाष्य० | ५९ | १ | ३ |
| णहि सद्दंतरवच्चं | ,, ,, | ५९ | १ | ४ |
| घडकुडसद्दत्थाणं | ,, ,, | ५९ | १ | १३ |
| घणिमेआओ मेओ | ,, ,, | ५९ | २ | २ |
| आगासे वसइत्ति य | ,, ,, | ५९ | २ | १२ |
| वत्थुं वसइ सहावे | ,, ,, | ५९ | २ | १२ |
| णेगमववहाराणं | ,, ,, | ६० | १ | ५ |
| माणं प्रमाणमिट्ठं | ,, ,, | ६० | १ | ९ |
| णहि पत्थाइ पमाणं | ,, ,, | ६० | १ | १० |
| पत्थादओ वि तक्कारणं ति | ,, ,, | ६० | २ | ३ |
| तक्कारणं ति वा जइ | ,, ,, | ६० | २ | ४ |
| देसी चेव य देसो | ,, ,, | ६१ | १ | ४ |
| पत्तो चेव समाणा | ,, ,, | ६१ | १ | ५ |
| घडकारविवक्खाए | ,, ,, | ६१ | २ | ७ |
| कुंभंमि वत्थुपज्जाय | ,, ,, | ६१ | २ | ८ |
| मृदादिभावैः परिणामवद्भि- | ,, | ६२ | १ | ५ |

| | | | | |
|---|---|---|---|---|
| एवं जह सद्दत्थो | ,, | ६२ | १ | १३ |
| वंजणअत्थतदुभयं | आवश्यक निर्युक्ति | ६२ | २ | ४ |
| वंजणमत्थेणत्थं | विशेषा० भाष्य० | ६२ | २ | ५ |
| सद्दवसादभिधेयं | ,, | ६२ | २ | ११ |
| सद्दपरिणामओ जइ | ,, | ६३ | १ | ४ |
| जइ वत्थुसंकमो वा | ,, | ६३ | १ | ६ |
| एवं जीवं जीवो | ,, | ६३ | १ | ११ |
| पञ्चेन्द्रियाणि त्रिविधं | आचा० टी० | ६३ | १ | १२ |
| तिकाले चदुपाणा | द्रव्यसंग्रह | ६३ | २ | २ |
| एएहि दिट्ठिवाये | विशेषा० भाष्य० | ६४ | १ | ६ |
| मग्गण गुणठाणेंहिं य | द्रव्यसंग्रह | ६४ | १ | १० |
| जह देसिच्चिय देसो | विशेषा० भाष्य० | ६४ | १ | १४ |
| अह भिन्नो तस्स तओ | ,, | ६४ | २ | ५ |
| नो सद्दो वि समत्तं | ,, | ६४ | २ | १२ |
| नीलुप्पलाइसद्दा | ,, | ६६ | १ | २ |
| तो वत्थुसंकराई | ,, | ६६ | १ | ६ |
| जे वयणिज्जवियप्पा | ,, | ६५ | २ | ७ |
| विभज्जवायं च विया- | सम्मति | ६५ | २ | १२ |

| | | | | |
|---|---|---|---|---|
| पुरिसज्जायं तु पडुच्च | आगम | ६५ | २ | १३ |
| अत्थंतरभूएहि य | सम्मति | ६९ | १ | १० |
| अह देसो सब्भावे | ,, | ७० | १ | ९ |
| सब्भावे आइट्ठो | ,, | ७० | २ | ५ |
| आइट्ठो सब्भावे | ,, | ७१ | १ | १० |
| सब्भावासब्भावे | ,, | ७१ | २ | १ |
| एवं सत्तवियप्पो | सम्मति | ७२ | १ | ११ |
| परपज्जवेहि विसरिस | ,, | ७४ | १ | १४ |
| पच्चुप्पण्णंमि वि प- | ,, | ७२ | १ | ११ |
| द्रव्यकषाययोगा | प्रशमरति श्लोक ६ | ७४ | २ | ११ |
| कोवं उप्पायन्तो | सम्मति | ७६ | १ | २ |
| रूवरसगन्धफासा | ,, | ७६ | १ | ११ |
| दूरे ता अण्णत्तं | ,, | ७५ | २ | ३ |
| दो उ णया भगवया | ,, | ७५ | २ | ९ |
| जं च पुण अरहया | ,, | ७५ | २ | १२ |
| परिगमण पज्जाओ | ,, | ७६ | १ | १ |
| जंपंति अत्थि समये | ,, | ७६ | १ | ९ |
| गुणसद्दमंतरेणावि | ,, | ७६ | १ | १२ |

| | | | | |
|---|---|---|---|---|
| जह दससु दसगुणंमि | ,, | ७६ | २ | १ |
| गुणपर्यायवद्द्रव्यं | तत्त्वार्थ अ० ५ सू. ३७ | ७६ | २ | ४ |
| गुणाणमासओ दव्वं | उत्तराध्ययन | ७६ | २ | ७ |
| दव्वणामे गुणणामे | अनुयोगद्वार | ७६ | २ | ८ |
| नाणदंसणट्ठयाए | आगम | ७६ | २ | १० |
| अण्णोण्णं पविसंता | | ७७ | २ | ६ |
| अणंतेहिं वण्णपज्ज- | भगवती | ८१ | १ | ८ |
| अणुदुअणुएहिं | सम्मति | ८१ | २ | ११ |
| एगत्तं च पुहुत्तं च | उत्तराध्ययन | ८१ | २ | १२ |
| गुणपर्यायवद् द्रव्यं | तत्त्वार्थ अ० ५ सू. ३७ | ८२ | १ | ७ |
| पिउपुत्तणत्तुभाणि० | सम्मति | ८२ | १ | ९ |
| जह संबंधविसिट्ठं | ,, | ८२ | १ | १० |
| होज्जाहि दुगुणमहुरं | ,, | ८२ | २ | ५ |
| भण्णइ संबंधवसा | ,, | ८२ | २ | १० |
| जुज्जइ संबंधवसा | ,, | ८२ | २ | १२ |
| भण्णइ विसमपरिणयं | ,, | ८३ | १ | २ |
| दव्वस्स ठिई जम्म | ,, | ८३ | १ | १० |
| दव्वत्थंतरभूया | ,, | ८३ | २ | १ |
| सीसमईविप्फारण | ,, | ८३ | २ | ७ |
| ण वि अत्थि अण्णवाओ | ,, | ८३ | २ | १० |
| भयणा वि हु भइयव्वा | ,, | ८४ | १ | १ |
| रयणप्पभा सिय | ,, | ८४ | १ | ६ |
| मूलक्षयकरीं प्राहु- | तार्किक | ८४ | १ | १३ |
| णियमेण सद्दहंतो | सम्मति | ८४ | २ | ६ |
| अणभिग्गहियकुदिट्ठी | उत्तराध्ययने | ८४ | २ | ११ |
| एगविह दुविह | नवतत्त्व | ८५ | १ | ३ |
| गइपरिणयं गई चेव | सम्मति | ८५ | १ | ५ |
| गुणणिव्वत्तियसण्णा | ,, | ८५ | २ | १० |
| कुंभो ण जीवदवियं | ,, | ८६ | १ | ४ |
| चरणकरणप्पहाणा | ,, | ८६ | १ | १० |
| वयसमणधम्म | प्रवचनसारोद्धार | ८६ | १ | ११ |
| पिंडविसोही समिई | ,, | ८६ | २ | १ |
| मण्णई तमेव सच्चं | भगवती | ८६ | २ | १२ |
| तं सव्वणयविसुद्धं | आवश्यकनिर्युक्ति | ८७ | १ | ५ |
| गुरुपारतंतनाणं | पंचाशक | ८७ | १ | ७ |
| गीयत्थो य विहारो | ,, | ८७ | १ | ८ |

## ॥ शुद्धिपत्रकम् ॥

| अशुद्धं | शुद्धं | पत्रं | पृष्ठं | पंक्तिः | अशुद्धं | शुद्धं | पत्रं | पृष्ठं | पंक्तिः | अशुद्धं | शुद्ध | पत्रं | पृष्ठं | पंक्तिः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| नारू | नादिरू | १ | २ | ७ | क्षया | दृष्टाक्षयाद | ३७ | २ | ८ | मेऽय | मेप्यय | ६८ | १ | ३ |
| शाद | शा:; अ | ४ | १ | ३ | च्च न | श्च । न | ३९ | २ | १२ | न चाभे | न च भे | ६८ | १ | १२ |
| च्छद्ध | च्छब्द | ४ | २ | ३ | त्पू | त्, पू | ४१ | २ | ५ | वस्य, न | वस्य न | ६८ | २ | १२ |
| त्यख्या | त्ख्या | ५ | २ | ५ | वृत्तः | वृत्तेः | ४२ | २ | ९ | ते तद्वा | तैतद्वा | ७० | १ | ४ |
| ति, ये | ति ये | १३ | १ | ९ | रौक | रैंक | ४७ | २ | ३ | क्षिता प | क्षिताप | ७० | १ | ५ |
| गित्व | गिकत्व | १७ | २ | ७ | कान्य | कस्य चान्य | ५३ | २ | १ | तोऽत्रद्र | तोद्र | ७० | २ | १० |
| प्रयो | प्रतियो | १७ | २ | १३ | त्यात् | त्वात् | ५६ | २ | ७ | बाधोदेशेऽ | बोधोदेशे | ७१ | १ | ५ |
| ष्टभा | ष्टमभा | २० | २ | ६ | कत्वेद्ध | कत्वद्ध | ५६ | २ | १२ | व, नेति | व नेति | ७२ | २ | ५ |
| ज्ञगा | ज्ञा | २७ | १ | ६ | लम्भ | लभ्य | ५७ | १ | १३ | नुमव | नुभव | ७४ | १ | ११ |
| ज्ञाद्ध | ज्ञोद्ध | ३३ | २ | ४ | सङ्का | सङ्क्रा | ५९ | १ | ६ | मित्तिक | मित्तक | ७५ | १ | ४ |
| निष्टा | निष्ठा | ३४ | २ | १३ | ननु | न तु | ६६ | २ | ८ | भेदाद | भेदाद्य | ८३ | २ | ६ |
| के र | के:, न चा | ३५ | १ | १४ | क्रिया क्ष | क्रियाक्ष | ६८ | १ | १ | तदेत | तदत | ८४ | १ | २ |

शोधितेऽप्यस्मिन् प्रायःसमाकृति प ष ब व घ ध इत्याद्यक्षरव्यत्यासादिका या काचिच्चेदशुद्धिः स्यात्स्वयं सा संशोध्याऽनाभोगादिगोचरा च क्षमाऽभ्यर्थ्यते ।

॥ ॐ अर्हं नमः ॥

॥ निजप्रज्ञावदातसंस्मारितातीतपूर्वश्रुतकेवलिभगवद्–न्यायविशारद–न्यायाचार्य–महोपाध्यायश्रीमद्–यशोविजयवाचकविरचितम् ॥

# ॥ जैनतर्केत्यपराभिधानं श्री अनेकान्तव्यवस्थाप्रकरणम् ॥

ऐन्द्रस्तोमनतं नत्वा, वीतरागं स्वयम्भुवम् ॥ अनेकान्तव्यवस्थायां, श्रमः कश्चिद्वितन्यते ॥ १ ॥
जिनमतमतिगम्भीरं, नयलवविद्भिः परैरनन्तनयम् ॥ आघ्रातुमपि न शक्यं, हरिणेन व्याघ्रवदनमिव ॥ २ ॥
वस्तुधर्मो ह्यनेकान्तः, प्रमाणनयसाधितः ॥ अज्ञात्वा दूषणं तस्य, निजबुद्धेर्विडम्बनम् ॥ ३ ॥

अथ कोऽयमनेकान्तः?, उच्यते-तत्त्वेषु भावाभावादिशबलैकरूपत्वम् । कानि तत्त्वानीति चेत्, तत्रेदं तत्त्वार्थमहाशास्त्रसूत्रं(अ० १–४) "जीवाजीवाश्रवबन्धसंवरनिर्जरामोक्षास्तत्त्वम्" ॥ जीवा औपशमिकादिभावान्विताः ॥ अजीवा धर्मादयश्चत्वारोऽस्तिकायाः ॥ आश्रूयते–गृह्यते यैः कर्म ते आश्रवाः, शुभाशुभकर्मादानहेतव इत्यर्थः ॥ बन्धो नामाश्रवात्तकर्मण आत्मना सह प्रकृत्यादिविशेषतः संयोगः ॥ आश्रवनिरोधहेतुः संवरः ॥ विपाकात् तपसो वा कर्मणां शाटो निर्जरा ॥ सर्वोपाधिविशुद्धस्वात्मलाभो मोक्षः ॥ "इत्येष सप्तविधोऽर्थस्तत्त्वम् । एते वा सप्तपदार्थास्तत्त्वानि" इति भाष्यकारः ॥ (अ० १ सू० ४) तत्त्वमित्यस्याऽव्युत्पत्तिपक्षे परमार्थ इत्यर्थः, व्युत्पत्तिपक्षे तु जीवादीनां या स्वसत्ता सा तत्त्वपदेनोच्यते । तस्याश्च प्रतिवस्तु यो भेदस्तमनादृत्यैकवचनम्, नैयायिकादिवत् तस्या अतिरिक्तत्वानभ्युपगमेन वस्तुधर्मतया प्रतिवस्तु भेदमभिप्रेत्य च भाष्ये

बहुवचनमपीति टीकाकृतः । वस्तुतः सकलज्ञानसाध्यैकप्रयोजनकत्वलक्षणमेकत्वं, लक्षणभेदज्ञानजनितपरस्परभेदज्ञानविषयत्वरूपं बहुत्वं चादायैकवचनबहुवचने सूत्रभाष्ययोर्बोध्ये ॥ स्वाभाविकैकत्वबहुत्वयोर्नयभेदाश्रयणेन प्रकृतसमाधाने चोपयोगवन्तो जीवः उपयोगवन्तो जीवा इति प्रयोगयोरपि साधुत्वापत्तेः, उपदर्शितनीत्या तु बहुत्वावच्छेदेनैवैकत्वस्य क्लृप्तत्वात् करितुरगरथाः सेनेत्यादाविव बहुवचनावरुद्धे एकवचनावरुद्धस्योद्देश्यविधेयभावेनान्वयो नानुपपन्न इति दिक् ॥

ननु कथं सप्तैव तत्त्वानि, पुण्यपापयोरप्यधिकयोः सत्त्वादिति चेत्, न, बन्ध एव तयोरन्तर्भावमभिप्रेत्य भेदेनानभिधानात्। हन्त तर्हि जीवाऽजीवास्तत्त्वमेतावदेव वाच्यं स्याद्, आश्रवादीनामपि पञ्चानां जीवाऽजीवयोरभिन्नत्वात्॥ तथाहि॥ आश्रवो मिथ्यादर्शनारूपः परिणामो जीवस्य, स च क आत्मानं पुद्गलांश्च विहाय । बन्धश्चात्मप्रदेशसंश्लिष्टकर्मपुद्गलात्मकः । संवरोऽप्यात्मन एवाश्रवनिरोधलक्षणो देशसर्वनिवृत्तिपरिणामः । निर्जरा तु पार्थक्यापन्नजीवपुद्गलदशैव । मोक्षोऽपि समस्तकर्मरहित आत्मैवेति ?, सत्यम्, इदमित्थमेव, किन्त्विदं शास्त्रं मुमुक्षुशिष्यप्रवृत्तये। सा च मुक्ति–संसारयोः कारणयोर्भेदेनाभिधानं विना न स्यादिति । आश्रवो बन्धश्चेति द्वयं मुख्यं संसारकारणम् । संवरो निर्जरा चेति द्वयं मुख्यं मोक्षकारणमुपात्तम् । यत्तु मुख्यं प्रयोजनं मोक्षो यदर्था सर्वा प्रवृत्तिः, स कथं न प्रदर्श्येतेति युक्तं पञ्चानामप्युपादानम् । अथ हेयोपादेययोरेककारणाभिधानेनैव चरितार्थत्वे किं द्वयाभिधानेनेति चेत्, न, एककारणे ज्ञाते कारणान्तरजिज्ञासाया औत्सर्गिकत्वात्, कारणद्वयज्ञाने च मध्यमजिज्ञासापरिपूर्तेः, तथापि मोक्षस्योपादेयतयेव हेयतया संसारस्यापि पृथगभिधानं कार्यं स्यादिति चेत्, न, अनागतजन्माद्यभावरूपसंसारहानेः स्वातन्त्र्येणासाध्यतया तद्धेतूच्छेदे पुरुषव्यापाराभ्युपगमेन तद्धेत्वोरेवाभिधानात्, संसारहानेर्मो-

सप्ततत्त्वस्वरूपं, तत्त्वं-तत्त्वानीति-भाष्योक्तैकवचनबहुवचनसाधुत्वव्यवस्थापनं न्यूनाधिकतत्त्वसंख्यापरामर्शश्च ॥

श्रस्वरूप एवानुप्रवेशान्मोक्षोपस्थितौ संसारस्य प्रतिपक्षत्वेनावश्योपस्थितिकतया पृथगभिधानस्यानतिप्रयोजनत्वाच्चेति सम्प्रदायपरिष्कारः। वस्तुतः संवरनिर्जरयोर्मोक्षे दण्डचक्रादिन्यायेन हेतुता, न तु तृणारणिमणिन्यायेनेति बोधयितुं द्वयाभिधानम्। बन्धपदेन संसारस्याश्रवस्य च तत्कारणतयाभिधानमित्ययं संसारनिवृत्तिमोक्षप्रवृत्तिप्रगुणः प्रघट्टक इत्यपि युक्तं पश्यामः। न चैवं सम्प्रदायातिक्रमः, अनेकनयसमूहात्मकत्वाद् भगवत्प्रवचनस्येति सूक्ष्ममीक्षणीयम् ॥

अत्र वैशेषिकाः—"सर्वत्र विभागवाक्ये न्यूनाधिकसङ्ख्याव्यवच्छेदफलकत्वं सर्वसिद्धं, तत्रोद्देश्यविधेयभावस्थले विधेयतावच्छेदकरूपेण विधेयतासमव्याप्तरूपेण वा विधेयस्य व्यापकत्वलाभो व्युत्पत्तिमर्यादयाऽवश्यं स्वीकर्तव्यः, अन्यथा वह्निमान् धूमवानित्यादौ द्रव्यत्वादिना धूमवदादिव्यापकत्वलाभप्रसङ्गात्, तदिह जीवाजीवेत्यादिवाक्ये चरमपदे तावदन्यतमत्वेन निरूढलक्षणास्वीकाराद् विधेयतावच्छेदकेनान्यथा च विधेयतासमव्याप्तेन जीवाजीवाद्यन्यतमत्वेन पदार्थव्यापकत्वलाभादाधिक्यं व्यवच्छिद्यताम्। यत्तु "विभाजकोपाधीनां मिथः साङ्कर्यरूपं न्यूनत्वमप्येतद्वाक्येनान्यतमत्वबलादेव व्यवच्छेद्यम्। न्यूनत्वे पृथिवीघटान्यतमत्ववत् तस्याऽसम्भवात्, घटभेदवृत्तित्वाद्यंशवैयर्थ्येन पृथिवीभेदवृत्तिद्वित्वादेः प्रतियोगिताऽनवच्छेदकत्वेन तदवच्छिन्नाऽभावाभावात्। तच्चात्रासम्भवीत्ययुक्तोऽयं विभाग" इत्याहुः। तन्न। भूतमूर्तान्यतमत्ववज्जीवाजीवाश्रवाद्यन्यतमत्वस्य जीवत्वाऽजीवत्वाश्रवत्वादिसाङ्कर्येऽपि सम्भवाज्जीवत्वाजीवत्वाद्यसाङ्कर्यस्य च जातिसाङ्कर्यादिबाधकान्तरादेव सिद्धेः। इत्थमेव "प्रमाणप्रमेयेत्यादि" गौतमीयविभागसूत्रमप्युपपद्यते ॥ अथैवं न्यूनत्वव्यवच्छेदाभिप्रायाभावादीदृशविभागकरणेऽपि वस्तुतः पदार्थद्वित्वसिद्धौ भेदद्वयाभावमात्रस्य व्यापकतावच्छेदकत्वसम्भवादुक्तान्यतमत्वाव-

विभागसंख्यायाः सार्थक्ये वैशेषिक-नैयायिकसंवादः। परिष्कारनिष्कर्षश्च ॥

च्छिन्नव्यापकताबलादेव न्यूनत्वव्यवच्छेदो बलादापतेत्। तथा च महदासमञ्जस्यमिति चेत्, न, 'तत्त्वं परमार्थ' इति विवरणात् तत्त्वपदस्य मुमुक्षुप्रवृत्त्युपयुक्तज्ञानविषये रूढत्वात् तस्य च सप्तभ्यो न्यूनत्वाऽभावादुक्तविभाजकोपाध्यवच्छिन्नभेदाभावसङ्ख्याव्याप्यसङ्ख्यायां व्यापकताऽवच्छेदकताऽवच्छेदकत्वपर्याप्त्यभावलक्षणन्यूनत्वव्यवच्छेदस्याबाधितत्वादिति दिक् ॥

अत्र चादग्धदहनन्यायेन यावदप्राप्तं तावद्विधेयम्। अत एव "लोहितोष्णीषा ऋत्विजः प्रचरन्ती"त्यत्र ऋत्विक्प्रचरणस्य प्रत्यक्षसिद्धत्वाल्लोहितोष्णीषत्वमात्रं विधेयम् "दध्ना जुहोती"त्यत्र दध्नः प्रत्यक्षसिद्धत्वात् करणत्वमात्रं विधेयमिति मीमांसानिष्णाताः सङ्गिरन्ते। अतो यस्य तत्त्वाधिगमस्तं प्रति जीवाद्यन्यतमस्य विधेयत्वं, यस्य च जीवाद्यन्यतमाधिगमस्तं प्रति तत्त्वस्य, यस्य चोभयानधिगमस्तं प्रत्युभयस्य विधेयत्वमित्यतिदेशेनाकरेऽव्यवस्थितम् ॥ विशेषविधिनिषेधयोः शेषनिषेधविध्यभ्यनुज्ञाफलकत्वात्, सामान्यतोऽवगतानां विशेषतोऽभिधाने न्यूनाधिकसङ्ख्याव्यवच्छेदकत्वं व्युत्पत्तिसिद्धमित्यपरे॥ "सर्वत्र श्रुतादध्याहृताद्वैवकारादेव न्यूनाधिकसङ्ख्याव्यवच्छेद" इत्यपि केचित् ॥ तदेवं जीवाजीवादीनि सप्तैव तत्त्वानीति व्यवस्थितम्। यदि चाऽभ्युदयहेतुतया पुण्यस्य तत्प्रतिपक्षतया पापस्यापि च पृथग् निरूपणमावश्यकं, तदाऽभ्युदयनिःश्रेयसहेतुप्रवृत्त्यनुकूलज्ञानविषयतया जीवाजीवादयो नवैव पदार्था निरूपणीया इति परममुनिसिद्धान्तसरणिः ॥

अथ किमेतेषु भावाभावादिशबलैकरूपत्वं?, उच्यते—विषयतया भावाभावाद्याकारबुद्धिजनकपरिणामद्वयतादात्म्यापन्नजात्यन्तरैकधर्मित्वं, अस्ति ह्येकस्य जीवाजीवादेः स्वपरद्रव्यादिनिबन्धनो भावाभावादिरूपो द्विविधः परिणामो, यद्बलात् तत्रास्तिनास्तीतिप्रत्ययद्वैविध्यमुपजायते। एकपरिणामस्याप्युभयाकारप्रतीतिजनकैकशक्तिमत्त्वात् प्रत्ययद्वैविध्यमुपपत्स्यत इति चेत्?,

तत्त्वपदैदम्पर्यं रत्नाकरादिग्रन्थसंवादेन नानामतविचारेण च संख्यासार्थक्यविचारः ॥

न, तथाप्यविनिगमेनोभयपरिणामवत्त्वसिद्धेः ॥ सदंशः परानपेक्षप्रतीतिविषयत्वात् तात्त्विकः, असदंशस्तु विपर्ययान्न तथेत्यस्ति विनिगमकमिति चेत्, न, परापेक्षप्रतीतिविषयत्वस्याऽतात्त्विकत्वाव्याप्यत्वात्, संयोगविभागह्रस्वत्वदीर्घत्वादौ व्यभिचारात् । प्रतियोगिविशिष्टसंयोगादिव्यवहार एव परापेक्षा, न तु तद्ज्ञानमात्र इति चेत्, तदिदमभावेऽपि तुल्यम् ॥ वस्तुतः केचिद्भावाः प्रतिनियतव्यञ्जकव्यङ्ग्याः, केचिन्न, इत्यत्र स्वभावविशेष एव शरणम् । कर्पूरशरावगन्धादौ तथास्वभावदर्शनात्, तद्वत्सदंशासदंशयोरपि नैकस्य तुच्छत्वमपरस्यातुच्छत्वं, तदिदमभिप्रेत्योक्तं प्रतीत्यसत्याधिकारे भाषारहस्येऽस्माभिः "ते हुंति परावेक्खा, वंजयमुहदंसिणोत्ति ण य तुच्छा ॥ दिट्ठमिणं वेचित्तं, सरावकप्पूरगंधाणं ॥ ३० ॥ " [ते भवन्ति परापेक्षा व्यञ्जकमुखदर्शिन इति न च तुच्छाः। दृष्टमिदं वैचित्र्यं शरावकर्पूरगन्धयोः ॥]ति ॥ शुद्धं भूतलमेव घटाभावव्यवहारविषय इति नाभावांशोऽधिक इति मीमांसकः, तन्न, शुद्धत्वस्याभाववत्त्वातिरिक्तस्यानिर्वचनेन कथञ्चिदभावपरिणामाधिक्यस्यावश्यकत्वात्, यादृशे भूतले परस्य घटाभाववत्त्वं तादृशत्वमेव मम शुद्धत्वमिति चेत्, न, अतिरिक्ताभाववादिभिर्नैयायिकादिभिर्भूतलत्वावच्छिन्न एव घटाभाववत्तास्वीकारेऽपि कालविशेषविशिष्टत्वस्य सम्बन्धतयाऽतिप्रसङ्गनिराकरणात्, अस्माकं तु कालविशेषविशिष्टत्वेनर्जुसूत्रनयादेशात् पूर्वावस्थातः कथञ्चिद्भिन्नस्य भूतलस्य घटाभावाऽऽधारत्वाऽभ्युपगमेनानुपपत्त्यभावात्, परस्य चैवमभ्युपगमेऽनेकान्तप्रवेशापत्तिः । किञ्च भावादेरनतिरेके दुरितध्वंसादेः परमेश्वरनमस्कारादिकार्यता न स्यात्, आत्मनि दुरितध्वंसस्यात्मस्वरूपत्वात्, तस्य च नित्यत्वेनाजन्यत्वात्, नित्यत्वेऽपि कथञ्चिदनित्यत्वाभ्युपगमेऽस्मत्पक्षप्रवेश इति यत्किञ्चिदेतदिति दिग् ॥ अभावाभाववतोरेकान्तभेदोऽपि नैयायिकाद्यभिमतो न न्याय्यः,

अनेकान्तलक्षणपरामर्शः, सदंशाऽसदंशयोर्वास्तवत्वे भाषारहस्योक्तदृष्टान्तप्रदर्शनं, मीमांसकपक्षनिरासश्च ॥

एकान्तभेदे सम्बन्धानुपपत्तेः, विशेषणताया एकस्वरूपत्वेऽतिप्रसङ्गादुभयस्वरूपत्वे तादात्म्यपर्यवसानात् । एकदेशिनां तदतिरेकाभ्युपगमस्याप्यन्याय्यत्वात्, तत्रापि सम्बन्धान्तरान्वेषणायामनवस्थानात्, स्वरूपतस्तस्याः सम्बन्धत्वाभ्युपगमे चाभावाभाववत्स्वरूपयोरेव तादात्म्येन सम्बन्धत्वकल्पनौचित्यादिति दिग् ॥ भावांशोऽपि न स्वलक्षणातिरिक्तः सकलव्यक्तिवृत्तितिर्यक्सामान्यात्मा प्रामाणिकः, देशेन तस्यैकव्यक्तिवृत्तित्वे सावयवत्वप्रसङ्गात्, कार्त्स्न्येन च तथात्वे इतरव्यक्तीनां निःसामान्यत्वप्रसङ्गादिति बौद्धः, तन्न, नैयायिकादिवत् सर्वथाऽतिरिक्तसामान्याभ्युपगम एव तद्दोषावकाशात्, कथञ्चिद्व्यावृत्तानामपि व्यक्तीनां कथञ्चिदनुगतत्वेन सामान्यभावाभ्युपगमे च तद्दोषासंस्पर्शात् । तत्तदन्यक्षणवृत्तित्वयोर्विरोधादूर्ध्वतासामान्यात्मा भावो नास्तीति स एव, तदप्यसत्, स एवायमिति प्रत्यभिज्ञयैवोर्ध्वतासामान्यसिद्धेः, तत्तदन्यक्षणवृत्तित्वयोश्चित्रज्ञाने नीलाकारपीताकारयोरिवाऽविरोधात् ॥ ज्ञानविषययोरतिरिक्तसम्बन्धानुपपत्तेर्ज्ञानाकार एव भावो न तु बाह्य इति तदेकदेशीयः, तदप्यसत्, बाह्यार्थाभावे नियतव्यवहारादिविलोपप्रसङ्गाद्, वासनाविशेषेण तद्व्यवस्थोपपादनेऽपि तत्प्रबोधार्थं बाह्यार्थाभ्युपगमावश्यकत्वादिति दिग् ॥ तदेवं व्यवस्थितं जीवाजीवादीनां विचित्रभावाभावादिशबलैकरूपत्वम् ॥ अथैवं सर्वस्याऽनेकान्तत्वेन सर्वरूपत्वे कथं प्रतिनियतधर्मग्रह इति चेत्?, मतिज्ञानोपयोगे तत्तत्सामग्रीसव्यपेक्षक्षयोपशमविशेषात्, श्रुतज्ञानोपयोगे च नयविशेषादिति गृहाण ॥ अत एवैकस्मिन्नेकत्वोद्बोधेऽयं गुरुरिति, अनेकत्वोद्बोधे चैते गुरव इति बोधः सङ्गच्छते । क्रमेणोभयोद्बोधेऽयं गुरव इति प्रयोगस्त्वेकत्वावरुद्धे बहुत्वान्वयस्य निराकाङ्क्षत्वादेव निरसनीयः, यत्र त्वनूद्यविधेयभावतात्पर्येण तथाऽन्वये न निराकाङ्क्षत्वं, तत्र भवत्येव नैगमनयाभिप्रायात् तथाप्रयोगो, यथा "सभूभृद्दष्टावपि

अनेकान्तलक्षणपरामर्शमिषेण नैयायिकबौद्धादिविचारनिरसनम् ॥

॥ ३ ॥

लोकपाला" इत्यादि लौकिके, यथा च "एकप्रहणगृहीता असङ्ख्येयाः प्रदेशा जीव" इत्यादि लोकोत्तर इति सर्तव्यम् ॥

अथ के ते नया यैः प्रतिनियतधर्मग्रह इति ?, उच्यते, "नैगमसङ्ग्रहव्यवहारर्जुसूत्रशब्दसमभिरूढैवम्भूता नयाः ॥" तत्र नैकैः प्रभूतैर्मानैर्महासामान्यावान्तरसामान्यविशेषज्ञानलक्षणैर्मिनोति भिमीते वा निरुक्तविधिना वर्णविपर्ययान्नैगमः। यद्वा गम्यतेऽनेनेति गमः—पन्थाः, नैके गमाः—पन्थानो यस्य स नैकगमः, निरुक्तविधिना ककारलोपान्नैगमः। अथवा लोकार्थनिबोधा निगमाः, तेषु भवः कुशलो वा नैगमः। अयं च महासामान्यादिषु त्रिषु क्रमेण सर्वाविशुद्धो विशुद्धाविशुद्धो विशुद्धश्च ज्ञातव्यः। एवं प्रस्थकाद्युदाहरणेष्वपि सिद्धान्तसिद्धेषु भावनीयम्। एवं घटादिष्वपि कार्यकारणयोरवयवावयविनोरन्यप्रकारेण चोपचारानुपचाराभ्यामविशुद्ध—मध्यम—विशुद्धभेदा भावनीयाः। एतद्व्युत्पत्त्यर्थमेव प्रस्थकादिदृष्टान्तोपदेशादस्मिन् नये विशेषेभ्योऽन्यदेव सामान्यम्, अनुवृत्तिबुद्धिहेतुत्वात्, सामान्याच्चान्य एव विशेषाः, व्यावृत्तिबुद्धिहेतुत्वात्, एवमाश्रयादपि भिन्नमेव सामान्यम्, अन्यथा व्यक्तिवत् साधारण्यानुपपत्तेः, एवं तुल्याकृतिगुणक्रियैकप्रदेशनिर्गतागतपरमाणुषु योगिनां परस्परभेदबुद्धिहेतुरन्त्यविशेषोऽपि परमाणुभ्यो भिन्न एव, स्वस्मिन्नितरभेदबुद्धेः स्वातिरिक्तविशेषहेतुकत्वनियमाद् गोत्वादिसामान्यविशेषस्थले तथादर्शनादित्यवधेयम्॥ नन्वेवं द्रव्यार्थविषयं सामान्यं पर्यायार्थविषयं विशेषं चेच्छन्नैगमः साधुवदुभयनयावलम्बित्वेन सम्यग्दृष्टिः स्यादिति चेत् ?, न, परस्परं वस्तुतश्च भिन्नसामान्यविशेषोभयाभ्युपगन्तृत्वेनास्य कणादवन्मिथ्यादृष्टित्वात्। तदुक्तं (विशे०) महाभाष्ये संमतौ (३-४९) च—"दोहि वि णएहि णीयं, सत्थमुलूएण तहवि मिच्छत्तं॥ जं सविसयप्पहाण—त्तणेण अण्णोण्णणिरवेक्खा॥२१९५॥" अस्यार्थः—द्वाभ्यामपि द्रव्यास्तिकनय—पर्यायास्तिक-

नयविभारोपक्रमः। नैगम नयस्यार्थाः, भेदाश्च, सामान्यविशेषाभ्युपगन्तृत्वेऽपि युक्त्याग्रन्थसंवादतश्च कणभुगुलूकपादयोर्मिथ्यात्वसमर्थनम्॥

नयाभ्यां, नीतं—समर्थितं, शास्त्रमुलूकेन—वैशेषिकदर्शनाद्यप्रवर्तकेन, तथापि तन्मिथ्यात्वमेव, यद् यस्मात्, ताविति शेषः। तौ वैशेषिकदर्शनप्रवर्तको द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकौ नयौ, स्वविषयप्रधानत्वेन सावधारणस्वविषयावगाहित्वेन, अन्योन्य-निरपेक्षौ इतरांशापलापिनौ, जैनाभिमतौ तु तौ स्याच्छब्दलाञ्छितत्वेन परस्परसापेक्षत्वान्न मिथ्यारूपाविति भावः ॥

ननु यदि द्रव्यपर्यायोभयविषयावगाही नैगमस्तदाद्यास्त्रयो द्रव्यार्थिकाः, अन्त्याश्चत्वारः पर्यायार्थिका इति सिद्धसेना-चार्याणाम्, आद्याश्चत्वारो द्रव्यार्थिका अन्त्यास्त्रयः पर्यायार्थिका इति जिनभद्रगणिक्षमाश्रमणपूज्यपादानां च विभागवचनं व्याहन्येत, नैगमस्योभयान्तःपातित्वेन पर्यायार्थिकाधिक्यात्, न चोभयविषयकत्वेऽपि द्रव्यांशे प्राधान्येनास्य द्रव्यार्थिकत्वमे-वेति वाच्यम्। पर्यायांशेऽपि क्वचिदस्य प्राधान्यदर्शनात्, त्रिविधो ह्ययमाकरादावुदाह्रियते, धर्मयोर्धर्मिणोर्धर्मधर्मिणोश्च प्रधानोपसर्जनभावेन विवक्षणात्, तत्र "सच्चैतन्यमात्मनी"त्याद्यो भेदः, अत्र चैतन्याख्यस्य धर्मस्य विशेष्यत्वेन प्राधान्यात्, सत्त्वाख्यधर्मस्य तु विशेषणत्वेनोपसर्जनभावात् १ ॥ "वस्तुपर्यायवद्द्रव्य"मिति द्वितीयो भेदः, वस्त्वाख्यधर्मिणो विशेष्यत्वेन प्राधान्यात्, पर्यायवद्द्रव्यस्य तु विशेषणत्वेनोपसर्जनभावात् २ ॥ "क्षणमेकं सुखी विषयाऽऽसक्तो जीवः" इति तृतीयो भेदः, अत्र विषयासक्तजीवाख्यधर्मिणो विशेष्यत्वेन मुख्यत्वात्, सुखलक्षणधर्मस्य तु विशेषणत्वेनोपसर्जनत्वात् ३ ॥ इत्थं चात्र धर्म-प्राधान्ये पर्यायप्राधान्यात् पर्यायार्थिकत्वमपि दुर्निवारमिति चेत्?, सत्यम्, द्रव्यपर्यायोभयग्राहित्वेऽपि नैगमस्याधिकृतवस्तुनि द्रव्यपर्यायान्यतरात्मकत्वजिज्ञासायां द्रव्यांशाप्रतिक्षेपेणैव द्रव्यार्थिकत्वनिर्धारणात्, अन्यथा सामान्यरूपस्यास्य सङ्ग्रहे विशेष-रूपस्य च व्यवहारेऽन्तर्भावपक्षे व्यवहारस्यापि द्रव्यार्थिकतायाश्चिन्त्यत्वापत्तेः, निर्णीते च स्वस्वान्यविषयाप्रतिक्षेपेणैव द्रव्यपर्या-

नैगमस्योभयग्राहित्वे कथं द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिकभेदानामुपपत्तिरित्यारेकाया आकराद्युदाहृतनैगमभेदत्रैविध्यप्रदर्शनेन निरसनम् ॥ ॥ ४ ॥

यत्राहिणोर्द्रव्यार्थिकत्व–पर्यायार्थिकत्वे निर्युक्तिभाष्यादौ। तदाह सामायिकमाश्रित्य एतच्चिन्तायां भगवान् भद्रबाहुः– (आव०नि०) “जीवो गुणपडिवन्नो, णयस्स दव्वट्ठियस्स सामइयं॥ सो चेव पज्जवट्ठिय–नयस्स जीवस्स एस गुणो॥२६४३॥” अस्यार्थः–द्रव्यमेवार्थो यस्य न तु पर्यायाः स द्रव्यार्थिकस्तस्य नयस्य मतेन, जीव आत्मा, गुणप्रतिपन्नः सामायिकम्, न तु समतागुणरूपः पर्यायः। अस्य मते गुणाः खल्वौपचारिकत्वात् “आदावन्ते च यन्नास्ति, वर्तमानेऽपि तत् तथा” इत्यादिन्यायाद् द्रव्यव्यतिरेकेण तेषामनुपलम्भाच्चासन्त एव। कथं तर्हि घटादिद्रव्ये रूपादिगुणप्रतीतिरिति चेद् ?, भ्रान्तैव, चित्रे निम्नोन्नतप्रतीतिवदिति दिग्॥ स एव सामायिकादिर्गुणः, पर्याय एवार्थो यस्य न तु द्रव्यं स पर्यायार्थिकनयस्तस्य मते परमार्थतोऽस्ति, न तु जीवद्रव्यं, यस्माज्जीवस्यैष गुणो जीवगुण इति षष्ठीतत्पुरुषसमासोऽयं, स चोत्तरपदप्रधानः, यथा तैलस्य धारा तैलधारेति। न चात्र धाराऽतिरिक्तं किमपि तैलमस्ति, एवं ज्ञानादिगुणातिरिक्तं जीवद्रव्यमपि नास्तीति पर्यायार्थिकाभिप्रायः॥ अत्र भाष्यम्॥ इच्छइ जं दव्वनओ, दव्वं तच्चमुवयारओ य गुणे॥ सामइयगुणविसिट्ठो, तो जीवो तस्स सामइअं॥२६४४॥ पज्जाओच्चिय वत्थुं, तच्चं दव्वं च तदुवयाराओ॥ पज्जवणयस्स जम्हा, सामइयं तेण पज्जाओ॥२६४५॥” प्रायः स्पष्टे॥ नवरं तदुपचारादिति तेषु पूर्वापरीभूतपर्यायेषूपचरणमुपचारः सांवृती कल्पना, ततो व्यवह्रियते, न तु परमार्थतो द्रव्यमस्तीत्यर्थः॥ एतदेव पर्यायार्थिकमतं युक्त्या समर्थयति भाष्यकृत्–“पज्जायनयमयमिणं, पज्जायत्थंतरं कओ दव्वं॥ उवलंभववहारा–भावाओ खरविसाणं व॥ २६४६॥ जह रूवाइविसिट्ठो, न घडो सव्वप्पमाणविरहाओ॥ तह नाणाइविसिट्ठो, को जीवो णामऽणक्खेओ ?॥२६४७॥” नास्ति परपरिकल्पितं द्रव्यं पर्यायेभ्योऽर्थान्तरत्वात् खरविषाणवत्। यद्वा नास्ति पर-

सामायिकमुद्दिश्य भगवता भद्रबाहुस्वामिना प्रदर्शितस्य द्रव्यपर्यायार्थिकनययो र्विचारः, तद्विषयं भाष्यविवरणं च प्रदर्शितम्॥

परिकल्पितं द्रव्यं पर्यायेभ्यो भेदेनानुपलभ्यमानत्वाद् व्यवहारेऽप्रयुज्यमानत्वाद् वा खरविषाणवदिति प्रयोगः॥ यथा वा रूप-रस-गन्ध-स्पर्शेभ्यो विशिष्टो भिन्नो घटो नास्ति, प्रमाणैर्ग्रहणाभावात् खरविषाणवत्, तथाऽनाख्येयः पर्यायविरहेण सर्वोपाख्यारहितो, ज्ञानादिभ्यो विशिष्टो-व्यतिरिक्तः को नाम जीवो, नास्ति कश्चनाप्यसाविति भावः। उक्तप्रयोगेषु धर्मिदृष्टान्ताद्यसिद्धिर्नाशङ्कनीया, विकल्पसिद्धानां तेषां साम्प्रदायिकैरभ्युपगमात्। स च विकल्पोऽखण्डालीकव्यवहारनिर्वाहकोऽसत्यख्यातिरूपः, खण्डशः प्रसिद्धपदार्थयोरलीकसम्बन्धव्यवहारनियामकाहार्यशाब्दभ्रमलक्षणान्यथाख्यातिरूपो वेत्यन्यदेतत्॥ द्वितीयपक्षेऽन्यत्र सत एवान्यत्रारोप इति द्रव्यस्य सत्त्वप्रसक्तिरिति चेत्, न, सभागक्षणसन्ततिरूपद्रव्यपदार्थे पर्यायात् पृथक्त्वभ्रमोत्तरं-पर्याये तत्सम्बन्धोपचारेणापि तत्सत्त्वासिद्धेरिति दिग्॥ एतदेव पर्यायार्थिकमतं (आवश्यक) निर्युक्तिकृदपि समर्थयन्नाह—"उप्पज्जंति वियंति य, परिणमंति य गुणा ण दव्वाइं॥ दव्वप्पभवा य गुणा, ण गुणप्पभवाइं दव्वाइं॥२६४८॥ अस्यार्थः-उत्पद्यन्ते व्ययन्ते उत्पादव्ययावच्छिन्नस्वभावेन च परिणमन्ते, द्वितीयचकारस्यैवकारार्थस्य गुणा इत्यनन्तरं सम्बन्धाद् गुणा एव पर्याया एव, न तु द्रव्याणि अतस्त एव सन्ति, पत्रनीलरक्ततादिवत्, न तु द्रव्याणि, उत्पादव्ययपरिणामरहितत्वाद् बन्ध्यासुतादिवदित्यर्थः। किञ्च द्रव्यात् प्रभवो येषां ते द्रव्यप्रभवा गुणा नेत्यत्र विश्रामः, ततो द्रव्यप्रभवा इत्यनन्तरं चकारस्याप्यर्थस्य व्यवहितसम्बन्धान्नकारस्य चाऽऽवृत्तिकरणात् नापि गुणप्रभवाणि द्रव्याणि भवन्तीत्यर्थसिद्धेर्न कारणत्वं नापि कार्यत्वं द्रव्याणामित्यसन्त्येव तानीत्युत्तरदलार्थः। अथवा द्रव्यप्रभवाश्च गुणा न भवन्ति, गुणप्रभवाणि तु द्रव्याणि भवन्ति, पूर्वापरीभावेन प्रतीत्य समुत्पादसमुत्पन्ने गुणसमुदाये द्रव्योपचारप्रवृत्तेः, तस्मात् सांवृतकार्यरूपापेक्षयाऽसांवृतकारण-

रूपस्यैवाभ्यर्हितत्वाद् गुण एव सामायिकमिति निर्युक्तिगाथार्थः ॥ एतदेव भाष्यकृदाह–( विशेषावश्यकभाष्य ) " उप्पायविगत(म)परिणा–मओ गुणा पत्तनीलयाइव ॥ संति न उ दव्वमिड्डं, तव्विरहाओ खपुप्फं व ॥२६४९॥ ते जप्पभवा जं वा, तप्पभवं होज्ज होज्ज तो दव्वं ॥ णय तं ते चेय जओ, परोप्परप्पच्चयप्पभवा ॥ २६५० ॥ " एकदेशिमतमुत्थापयति–"आहाऽवक्खाणमिदं,इच्छइ दव्वमिह पज्जवणओवि ॥ किंतच्चंतविभिन्ने, मन्नइ सो दव्वपज्जाए ॥२६५१॥ उप्पायाइसहावा, पज्जाया जं च सासयं दव्वं ॥ ते तप्पभवा ण तयं, तप्पभवं तेण ते भिन्ना ॥ २६५२ ॥ जीवस्स य सामइअं, पज्जाओ तेण तं तओ भिन्नं ॥ इच्छइ पज्जायणओ, वक्खाणमिणं जहत्थंति ॥२६५३॥" आह कश्चिद् व्याख्यात्राभासः—ननु पर्यायार्थिकनयमते यदिदं सर्वथा द्रव्याभावव्याख्यानं भवद्भिः कृतं तदयुक्तमेव, यत इह पर्यायनयोऽपि द्रव्यमिच्छत्येव, किन्तु परस्परमत्यन्तभिन्नावेव द्रव्यपर्यायावसौ मन्यते, न पुनः कथञ्चिदेव, इत्येतावता सिद्धान्तादस्य भेद इति ॥ कुतः पुनरस्य द्रव्यपर्याययोरत्यन्तं भेद इति, आह, यद् यस्मादुत्पादव्ययपरिणामस्वभावाः पर्यायाः, शाश्वतं नित्यं, पुनर्द्रव्यं, किञ्च ते गुणास्तत्प्रभवा द्रव्यलब्धात्मलाभाः, न पुनस्तद्द्रव्यं तत्प्रभवं गुणेभ्यो लब्धात्मस्वरूपं, तेन ते द्रव्यपर्याया भिन्नाः ॥ यस्माच्च जीवस्य शाश्वतस्य, तद्व्यतिरिक्तं सामायिकं पर्यायः, तेन तत् सामायिकं, ततो जीवाद्, भिन्नमत्यन्तव्यतिरिक्तं, इच्छति पर्यायनयः, अतो मदीयं व्याख्यानमिदं यथार्थं घटमानकं, पर्यायार्थिकाभिमतद्रव्यपर्यायात्यन्तभेदव्याप्यवैधर्म्यज्ञानपरतया "उप्पज्जंति वियंति ये"त्यादिनिर्युक्तिगाथाया न्याय्यत्वादिति निर्गलितार्थः ॥ एतन्मतमपाकुर्वन् स्वव्याख्यानं समर्थयन्नाह—"जइ पज्जायनउ च्चिय, सम्मन्नइ दोवि दव्वपज्जाए ॥ दव्वट्ठिओ किमड्डं, जइ व मई दोवि जमभिन्ने ॥२६५४॥

निर्युक्तिविवरणद्वारा द्रव्यपर्यायोर्भेदनिरूपणं तद्विषये विस्तृत युक्तिप्रदर्शनञ्च ॥

इच्छइ सो तेणोभय-मुभयग्गाहे वि सइ पिहब्भूअं ॥ मिच्छत्तमिहेगंता-देगत्तण्णत्तगाहाओ ॥२६५५॥ एगत्ते मणु दवं, गुणोत्ति पज्जायवयणमित्तमियं ॥ तम्हा तं दवं वा, गुणो व दवट्ठिअग्गाहो ॥२६५६॥ जइ भिन्नोभयगाही, पज्जायनओ तदेगपक्खंमि ॥ अविरुद्धं चेव तयं, किमओ दवट्ठियनएण ॥२६५७॥ तम्हा किं सामइअं, हवेज्ज दवं गुणोत्ति चिंतेयं ॥ दवट्ठियस्स दवं, गुणो य तं पज्जवणयस्स ॥२६५८॥ इहरा जीवाणत्तं, दवमयस्सेयरस्स भिन्नं ति ॥ उभयनओभयगाहे, घडेज्ज णेक्केकगाहंमि ॥२६५९॥"

व्याख्या—यदि भोः, पर्यायनय एव द्रव्यपर्यायौ द्वावपि सम्मन्यते–अभ्युपगच्छति, तर्हि द्रव्यार्थिकः किमर्थं 'द्रव्यपरिकल्पना त्वयेष्यत' इति शेषः । पर्यायनयाभ्युपगमेनापि द्रव्यस्य सिद्धत्वादिति भावः ॥ यदि चैवम्भूता मतिः स्यात् परस्य, द्वावपि द्रव्यपर्यायौ, यद् यस्माद् अभिन्नौ परस्परात्म(रमे)कत्वमापन्नौ ॥ इच्छति स द्रव्यार्थिकनय इति सम्बन्धः । तेन कारणेनेदमुभयं द्रव्यपर्यायार्थिकनयद्वयं, उभयग्राहेऽपि सति प्रत्येकमुभयाभ्युपगमेऽपि सति, पृथग्भूतं भिन्नं, एकेनोभयोरत्यन्तमभेदाभ्युपगमादन्येन चाऽत्यन्तभेदाभ्युपगमादित्यर्थः । तथा प्रत्येकमुभयग्रहेऽप्युभयं मिथ्यात्वमेकान्तादेकान्तेन प्रत्येकमेकत्वान्यत्वग्रहात् ॥ तत्रोच्यते–ननु द्रव्यपर्याययोरेकत्वे त्वदभिप्रायतो द्रव्यार्थिकेनेष्यमाणे द्रव्यं गुण इति ध्वनिद्वयमिदमेकार्थवाचकत्वादिन्द्रपुरन्दरादिध्वनिवत् पर्यायवचनमात्रमेव स्यात्, तस्मात् सामायिकं, द्रव्यं वा गुणो वेति द्रव्यार्थिकनयग्रहः स्यात्, न पुनस्तद्द्रव्यमेवेति तद्ग्रहो भवेत्, न चैवमिष्यते, द्रव्यार्थिकनयमतेन द्रव्यरूपस्यैव तस्य प्रसिद्धेरिति ॥ तथा, यदि भिन्नोभयग्राही पर्यायनयस्त्वयेष्यते, तदेकपक्षे एकद्रव्यांशग्रहवेलायाम्, अविरुद्धमेव तत् सामायिकं, द्रव्यत्वेनेति शेषः । अतः किं द्रव्यार्थिकनयेनोपन्यस्तेन ॥

भाष्यसंवादेन विशेषतो द्रव्यपर्यायाभेदवादिमतनिरसनं तद्विषये युक्तिविस्तरप्रदर्शनञ्च ॥

तदर्थस्यान्यत एव सिद्धेः, अनन्यलभ्यस्यैव विषयस्य नयान्तरकल्पकत्वात् ।। तस्मात् किं द्रव्यं गुणो वा सामायिकमितीयं चिन्ता प्रस्तुता, अस्यां चिन्तायामुच्यते—द्रव्यार्थिकनयस्याभिप्रायेण द्रव्यं, पर्यायार्थिकनयस्य मतेन गुणश्च, तत् सामायिकमित्येव व्याख्यानं श्रेयः ।। इतरथाऽन्यथा पुनर्द्रव्यार्थिकस्य जीवादनन्यत् सामायिकं, इतरस्य तु पर्यायार्थिकस्य, जीवाद् भिन्नं तद्, इत्येवं व्याख्यायमानं प्रागुक्तयुक्त्या, न घटेतेति शेषः ।। कथं पुनर्घटेत इत्याह—उभयनयस्योभयोर्नययोर्मिलितयोरुभयग्राहे प्रत्येकोपनीतैकैकविषयसमावेशेनाभ्युपगम्यमाने सर्वं घटेत, न त्वेकैकग्राहे, एकैकस्योभयविषयकत्वाभ्युपगमे, एवं हि मिलनस्याधिकविषयानुपनायकत्वेनानतिप्रयोजनत्वादित्यर्थः ।। स्यादेतत्, प्रत्येकमेकैकविषयत्वेऽप्युभयोर्मिलनस्य स्यात्कारलाञ्छनेन सम्यक्त्वापादनमेव प्रयोजनं तत्प्रत्येकमुभयविषयकत्वाभ्युपगमेऽपि निष्प्रत्यूहं तव मते स्याद्गुणविशिष्टजीव एव सामायिकम्, स्याज्जीवगुण एव सामायिकमिति मिलिताभिलापवन्मम मते स्याज्जीवाभिन्नगुण एव सामायिकं स्याज्जीवभिन्नगुण एव सामायिकमिति मिलिताभिलापस्यापि सम्भवात्, न चैवं भङ्गद्वयेऽपि द्रव्यप्राधान्याऽलाभः, स्याज्जीवाभिन्नगुण एवेत्यादेः स्याद्गुणाभिन्नजीव एवेत्यादेरपि समानसंवित्संवेद्यतया लाभाभ्युपगमात् ।। किं च मम मते 'जीवो गुणप्रतिपन्न इति निर्युक्तिप्रतीके गुणाभिन्न इत्यर्थे साम्मुख्यम्, तव मते तु गुणानामौत्प्रेक्षिकत्वेन शुक्तौ रजतारोपस्थले शुक्तौ रजतस्येव जीवे गुणानां वैज्ञानिकसम्बन्धस्यैवाभ्युपगमेन गुणनिरूपितवैज्ञानिकसम्बन्धवानित्यर्थो वाच्य इत्यसाम्मुख्यम् । ननु मम मते द्रव्यास्तिकपक्षे द्रव्यगुणपदयोरर्थाभेदेन पर्यायत्वापत्त्या द्रव्यं गुणो वेत्येकतरनिर्धारणानुपपत्तिः, तव मते द्रव्यार्थिकपक्षे गुणस्येव मम मते द्रव्यार्थिकपक्षे द्रव्यगुणयोरभेदस्य वास्तवत्वेऽपि गुणे द्रव्यभेदस्यौत्प्रेक्षिकस्याङ्गी-

द्रव्यपर्यायाभेदवादिमतनिरसनं तद्विषये युक्तिविस्तरप्रदर्शनञ्च ।।

कारेण तमादाय द्रव्यगुणपदयोः पर्यायत्वापत्त्युद्धारादिति चेत्, मैवम्, सामायिके द्रव्यगुणत्वान्यतरव्याप्यशुद्धधर्मप्रकारकजिज्ञासायां तादृशविशिष्टधर्मप्रकारकबोधजनकनयशब्दप्रयोगस्यासङ्गतत्वापत्तेर्दुरुद्धरत्वात्, न हि कोऽयमिति घटजिज्ञासायां चैत्रावलोकितमैत्रनिर्मितघटोऽयमित्यनुन्मत्तः प्रयुङ्क्ते ॥ अथ सामायिकपदात् सामायिकोपस्थितौ तत्र द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकनयान्यतरप्रकारप्रकारकज्ञानस्येष्टसाधनत्वज्ञानात्, तथैव जिज्ञासया तथैव प्रश्नात्, तथैव प्रतिवचनरूपनयशब्दप्रयोगो नानुपपन्न इति चेत्, न, वक्त्रभिप्रायरूपनयपक्षेऽन्योन्याश्रयात् । एवं सति सामायिके द्रव्यपर्यायात्मकत्वस्याद्वादात् तत्कुक्षिप्रविष्टतद्भेदाभेदस्याद्वादस्यानतिरिक्तत्वप्रसङ्गाच्च । न चेष्टापत्तिः, तत्र द्रव्यपर्यायात्मकत्वस्याद्वादसिद्धावपि तद्भेदाभेदस्याद्वादोत्थापनमूलाकाङ्क्षाव्युपरमाऽभावादिति दिग् ॥ अथ यदुक्तं—"सो चेव पज्जवट्ठिय-नयस्स जीवस्स एस गुणो त्ति"। एतदवष्टभ्य परः प्राह—"नणु भणियं पज्जाय-ट्ठियस्स जीवस्स एस हि गुणोत्ति ॥ छट्ठीए तओ दवं, सो तं च गुणो तओ भिन्नो ॥२६६०॥" व्या०ननु सो चेवेत्यादिनिर्युक्तिगाथोत्तरार्धे भणितं पर्यायार्थिकनयमतेन जीवस्यैष सामायिकलक्षणो, गुण इति । हि-र्यस्मात्, षष्ठ्या षष्ठीनिर्देशादवसीयते, ततः स जीवो, द्रव्यं तच्च सामायिकं, गुणः स च सामायिकगुणः, ततो, जीवद्रव्याद्, भिन्न इति पर्यायनयमते भिन्नद्रव्यपर्यायोभयसद्भावस्य श्रौतत्वान्मदीयमेव व्याख्यानं श्रेय इति परस्याकूतम् ॥ अत्रोत्तरमाह—" उप्पायभंगुराणं, पइक्खणं जो गुणाण संताणो ॥ दव्वोवयारमेत्तं, जइ कीरइ तम्मि तन्नाम ॥ २६६१ ॥ तव्भेयकप्पणाओ, तं तस्स गुणोत्ति होउ सामइयं ॥ पत्तस्स नीलया जह, तस्संताणोदियत्थमिया ॥२६६२॥" व्या० ननु पर्यायार्थिकमते वास्तवं द्रव्यं त्वयेष्यते कल्पितं वा, यद्याद्यः पक्षः, स न युक्तो 'जइ पज्जायनओच्चिये' (गाथा २६५४) त्यादिनोक्तोत्तर-

त्वात्। अथ द्वितीयः, तत्रोच्यते—उत्पादभङ्गुराणां प्रतिक्षणमुत्पादव्ययगुणयोगिनां, गुणानां यः सन्तानः समागसन्तताववनवरतप्रवृत्तिस्तस्मिन् यदि समानबुद्ध्यभिधानहेतुत्वेन निबन्धनेन द्रव्योपचारमात्रं क्रियते षष्ठीवादिना भवता, तदा तन्नाम नामेत्यभ्युपगमे मन्यामहे तदित्यर्थः, न हि कल्पितद्रव्यसद्भावो वास्तवं द्रव्याभावं विरुणद्धि, ततश्च तद्भेदकल्पनात् तेन कल्पितद्रव्येण सह भेदकल्पनात्, तत् सामायिकं, तस्य कल्पितजीवद्रव्यस्य गुणो भवतु, को निवारयिता ?, यथा पत्रस्य गुणसमुदायव्यतिरिक्तस्य कल्पितस्य, तत्सन्ताने तस्मिन्नेव उदितोत्पन्ना, अस्तमिता च विनष्टा, नीलता गुणो व्यवह्रियते, तथा प्रकृतकल्पनायामपि व्यवहर्तॄणां न बाधकम्। आशूत्पत्तिदोषेण क्षणिकगुणसन्ताने भेदाऽग्रहादभेदेनाऽध्यवसिते तत्र द्रव्यप्रवृत्तेरित्यर्थः। न च वक्तव्यं 'देवदत्तस्य गावः' इत्यादौ वास्तव एव सम्बन्धिद्वये षष्ठीदर्शनान्नोक्तोपपत्तिरिति, 'राहोः शिरः, शिलापुत्रकस्य शरीरम्' इत्यादिभिर्व्यभिचारात्॥ ननु गुणसन्तानयोर्घटतत्स्वरूपवद् भेदकल्पनैव न सम्भवति, तन्निबन्धनधर्माभावात्, षष्ठी चाभेदार्थिकैव, घटस्य स्वरूपमित्यत्रेव। न चैवं घटस्य स्वरूपमितिवद् घटस्य घट इति प्रयोगापत्तिः, 'अप्रयोगादेवाप्रयोग' इतिन्यायेन तदनापत्तेः। समानविशेष्यत्वप्रत्यासत्त्या घटादिनिरूपितषष्ठ्यर्थाभेदप्रकारकशाब्दबोधे स्वरूपादिपदजन्यपदार्थोपस्थितेर्हेतुत्वान्न तदापत्तिरिति न्यायमार्गः। तथा च कथं कल्पितस्यापि गुणव्यतिरेकिणो द्रव्यस्य सद्भाव इत्याशङ्कायां भेदकल्पनानिबन्धनं धर्मभेदमुपदिदर्शयिषुराह—"उप्पायभङ्गुरा जं, गुणा य न य सो त्ति ते य तप्पभवा॥ न य सो तप्पभवोत्ति य, जुज्जइ तं तदुवयाराओ॥२६६३॥" व्या० यत्—यस्माद्, उत्पादभङ्गुरा गुणाः, न चासौ सन्तान उत्पादभङ्गुरः, तस्य प्रवाहनित्यतया स्थितत्वादित्येको गुणसन्तानयोर्धर्मभेदः, तथा, ते सामायिकादयो नीलता-

पर्यायार्थिनये द्रव्यस्य कल्पितस्य कल्पितो गुणभेदः तत्र भाष्यसम्मतिः॥

दयो वा गुणाः, तत्रैव सन्ताने प्रभवः उत्पत्तिर्येषां ते तथा, न पुनरसौ सन्तानः, तत्प्रभवो गुणेभ्यो लब्धात्मलाभः, तस्य गुणसादृश्यनिबन्धनत्वात्, तथा च कारणमेव सन्तानः, न कार्यं, कार्यमेव च गुणाः, न कारणमित्येष द्वितीयो गुण-सन्तानयोर्धर्मभेदः, इति युज्यते तज्जीवद्रव्यं, तदुपचारात्तत्र गुणसन्ताने गुणेभ्यो भेदकल्पनात् ॥ तदेवं पर्यायार्थिकनयमतं युक्तितः समर्थितम् ॥ अथ द्रव्यार्थिकनयाभिप्रायं दिदर्शयिषुराह—"बीयस्स दव्वमेत्तं, णत्थि तदत्थंतरं गुणो णाम ॥ सामण्णावत्थाणा-ऽभावाओ खरविसाणं व ॥२६६५॥ आविब्भावतिरोभा-वमेत्तपरिणामिदव्वमेवेयम् ॥ णिच्चं बहुरूवं चिय, णडोव्व वेसंतरावण्णो ॥२६६६॥" व्या० द्वितीयस्य द्रव्यार्थिकनयस्य सर्वं सुवर्णरजतादिकं द्रव्यमात्रमेवास्ति, गुणस्तु रक्तत्व-श्वेतत्वादिकस्तदर्थान्तरभूतो नास्ति, तस्य सामान्यरूपतयाऽवस्थानाभावात् खरविषाणवत्, तथाहि आविर्भावः कुण्डलादिरूपेणाभिव्यक्तिः, तिरोभावश्च मुद्रिकादिरूपेणानभिव्यक्तिः, तावेव तन्मात्रं, तेन परिणन्तुं-प्रवर्तितुं शीलं यस्य तत् तथा। द्रव्यमेवेदं सुवर्णादिकमस्ति, न तु तदतिरिक्ता गुणाः। किम्भूतं द्रव्यम् ?, नित्यम्—अविचलितस्वभावं, बहुरूपं च कङ्कणा-ऽङ्गद-कुण्डल-मुद्रिकादिबहुपरिणामं, राम-रावण-भीमा-ऽर्जुनादिसम्बन्धीनि वेषान्तराण्यापन्नो नट इव॥ द्रव्यार्थिकस्य समर्थनार्थं निर्युक्तिकृदप्याह—"जं जं जे जे भावे, परिणमइ पओगवीससादव्वं ॥ तं तह जाणाइ जिणो, अपज्जवे जाणणा णत्थि ॥२६६७॥" व्या० पओगवीससत्ति लुप्तविभक्तिको निर्देशः, प्रयोगः 'चेतनावतो व्यापारः', विस्रसा 'स्वभावः', ताभ्यां यान् यान् भावान् कृष्णत्व-रक्तत्व-पीतत्व-शुक्लत्वादीन्, यद् यद् द्रव्यं घटा-ऽभ्रधनुरादि, परिणमति-आत्मसात् कुरुते। प्रयोगविस्रसाद्रव्यमित्येकसमासस्वीकारे तु प्रयोगविस्रसानिष्पन्नद्रव्यमित्यर्थे द्रव्यपदस्य

व्यक्तिवचनत्वेन तदुभयनिष्पन्नमिश्रद्रव्यस्यैव सङ्ग्रहः स्यात्, न प्रायोगिकवैस्रसिका (कयोः) जातिवचनत्वे च जातेरनिष्पन्नत्वेन बाध इत्यालोच्य प्रयोगविस्रसाभ्यामिति व्याख्यातम्। तथा च यान् यान् भावानिति कर्मवीप्सामहिम्ना वामदक्षिणहस्ताभ्यां यं यं गृह्णातीत्यत्रेव प्रत्येककरणान्वयतात्पर्याज्ञानुपपत्तिरिति ध्येयम्। तं तद्दृत्ति वीप्साप्रधानत्वान्निर्देशस्य तत्तत्तथातथा तेन तेन रूपेण परिणमद्द्रव्यमेव, जानाति जिनः केवली, न पुनस्तदतिरिक्तान् पर्यायानिति भावः, तेषामुत्प्रेक्षामात्रेणैव सत्त्वात्। न ह्युत्फणविफणकुण्डलिताद्यवस्थासु सर्पादिद्रव्यस्य स्वरूपव्यतिरिक्तः कोऽपि पर्यायः, सर्वावस्थाऽविचलितस्वरूपस्य सर्पादिद्रव्यस्यैव संलक्षणात्। यदि पर्याया न विद्यन्ते तदा कथमुच्यते यान् यान् भावान् परिणमत इत्यत आह—अपर्याये–पर्यायरहिते वस्तुनि, 'जाणण'त्ति केवल्यादीनां परिज्ञा, नास्ति, ज्ञानविषयतयोत्प्रेक्षामात्रेणैव तत्पर्यायाः सन्ति, न तु द्रव्यव्यतिरेकिणः, अतो द्रव्यान्यसत्त्वाभावादसन्त एव पर्यायाः, द्रव्यमेव च परमार्थसदित्यर्थः ॥

नन्‍ु द्रव्यान्यसत्त्वाभावाद् यदि पर्यायाणामसत्त्वं तदा द्रव्यस्याप्यसत्त्वं स्यात्, न हि द्रव्येऽपि द्रव्यान्यसत्ता द्रव्यार्थिकेनाभ्युपगम्यते, किन्तु द्रव्यात्मिकैव, कालत्रयत्यन्ताभावप्रतियोगित्वरूपमसत्त्वं तु परिभाष्यमाणमपि न मौलं सत्त्वं विरुणद्धीति चेत्, न। अविचलितैकस्वभावत्वेन सत्सदिति व्यवहारविषयतया द्रव्यमेव हि मौलं सत्त्वं, तदभावाच्च पर्यायाणामसत्त्वमित्यर्थात्, तर्ह्यसत्यपर्यायांशे तदवगाहिकेवलज्ञानस्य भ्रान्तत्वं स्यादिति चेत्, न, तदुपहितद्रव्यस्यैव तेन ग्रहणाभ्युपगमेन तदंशेऽभ्रान्तत्वात्। न चोपहितानुपहितभेदेऽपि द्रव्यभेदापत्तिः, घटपटाकाशाभेदवत् तदभावात्, न चासतोऽनुपधायकत्वं, प्रतिसूर्यस्य जलोपधायकत्ववदविरोधात्, केवलिना केवलज्ञानोपयोगे प्राधान्येनाऽविषयीक्रियमाण-

द्रव्यार्थिकनये पर्याया द्रव्यमेव न तद्व्यतिरिक्ताः, पर्यायाणामसत्त्वञ्च निरुक्तं ॥

त्वमेव वा द्रव्यार्थिकमते पर्यायाणामसत्त्वम्, न चेदं परिभाषामात्रं, निश्चयतः केवलज्ञानस्यैव पदार्थसत्तायां प्रमाणत्वात् । छाद्मस्थिकज्ञानानां संवादादिना व्यवहारत एव प्रामाण्याभिमानादिति दिग् ॥ उक्तमेव प्रकृतगाथार्थं भाष्यकृद् विवृणोति—" जं जाहे जं भावं, परिणमइ तयं तया तओणन्नं ॥ परिणइमेत्तविसिट्ठं, दव्वं चिय जाणइ जिणिंदो ॥ २६६८ ॥" व्या० इह यद् घटेन्द्रधनुरादिद्रव्यं, यदा-यस्मिन् काले, यं रक्त-श्वेतादिकं, भावं परिणमति तत् तदा ततः पर्यायादनन्यद्द्रव्यमेव, परिणतिमात्रविशिष्टं वस्तुतोऽविचलितस्वभावं जानाति ॥ कुण्डलादिकमिव संस्थानविशेषविशिष्टं सुवर्णं कुण्डलादिपर्यायासत्त्वे कथं तद्व्यपदेश इति जिज्ञासायामाह—"न सुवण्णादन्नं कुं–डलाइ तं चेव तं तमागारं ॥ पत्तं तव्ववएसं, लहइ सरूवादभिन्नंपि ॥ २६६९ ॥" व्या० न सुवर्णादन्यत् कुण्डलादिकमभ्युपगच्छामः, किन्तु तदेव सुवर्णमेव, तं तं कुण्डलादिरूपं, आकारं प्राप्तं तद्व्यपदेशं कुण्डलादिव्यपदेशं लभते, स्वरूपात्पूर्वावस्थाभाविन उत्तरावस्थायां, अभिन्नमपि तत्तद्विशिष्टाकारनिबन्धनत्वान्न निर्निबन्धनस्तद्व्यपदेशः, न च विशिष्टभेदः शुद्धाभेदप्रतिबन्धीति भावः ॥ एवमपि यदि गुणानामन्यत्वमिष्यते तत्राह—"जइ वा दव्वादन्ने, गुणादओ नूण सप्पएसत्तं ॥ होज्ज व रूवाईणं, विभिन्नदेसोवलंभोवि ॥ २६७० ॥" व्या० यदि पुनर्द्रव्याद्रूपादयो गुणा आदिशब्दान्नवपुराणादयश्च पर्यायाः, अन्ये व्यतिरेकिण इष्यन्ते, तदा नूनं निश्चितं गुणादीनां स्वप्रदेशत्वमापद्यते, द्रव्यप्रदेशा हि गुणादय इष्यन्ते, द्रव्यभेदाभ्युपगमे च तेषामनन्यशरणानां स्वप्रदेशत्वमेव स्यात्, न चैतदृष्टमिष्टं वा, गुणादीनां सदैव पारतन्त्र्येण परप्रदेशत्वस्यैव न्याय्यत्वात् । किं चैवं रूपादीनां विभिन्नदेशोपलम्भोऽपि स्यात्, 'यद् यतो भिन्नं तत्ततो भिन्नदेश

केवलज्ञान-
स्यैव पदा-
र्थसत्तायां
प्रामाण्यम-
न्यस्य व्य-
वहारत एव
प्रामाण्यं प-
रिणतिमा-
त्रविशिष्टद्र-
व्यस्यैव के-
वलज्ञानवि-
षयत्वञ्च ॥

उपलभ्यत ' इतिव्याप्तेः, उपष्टम्भकभागेन व्यभिचार इति चेत्, न, परिणामाभेदवादे तस्यापीतरभागाभिन्नत्वादिति भावः॥ अथोपचारतो यदि पर्याया अप्यभ्युपगम्यन्ते तदा सिद्धसाध्यतेति दर्शयन्नाह—" जइ पज्जवोवयारो, लय-प्पयासपरिणाममित्तस्स ॥ कीरइ तन्नाम ण सो, दव्वादत्थंतरब्भूओ ॥२६७१॥" व्या० लयस्तिरोभावो दर्शनायोग्यं रूपमिति यावत्, प्रकाश आविर्भावो दर्शनयोग्यं रूपमिति यावत्, ताभ्यां यः परिणामः स एव तन्मात्रं, तत्र यदि तत्तद्विशेषबुद्ध्यभिधाननिमित्तत्वेन पर्यायोपचारः क्रियते तन्नाम मन्यामहे तदित्यर्थः, केवलं नासौ पर्यायो वास्तवः कोऽपि द्रव्यादर्थान्तरभूत इत्येतदेव भुजमुत्क्षिप्य ब्रूमः ॥ ननु यदि न वास्तवः पर्यायः किन्तु कल्पितस्तदा खरशृङ्गस्याप्यसौ कुतो न भवति ? कल्पनामात्रस्य तत्रापि सुकरत्वादित्यत आह—"दव्वपरिणाममित्तं, पज्जाओ सो य ण खरसिंगस्स॥ तदपज्जवं ण णज्जइ, जं नाणं णेयविसयंति ॥२६७२॥"व्या० कालविशेषादिविशिष्टो द्रव्यपरिणाम एव द्रव्यपरिणाममात्रं पर्यायो नान्यः । स च न द्रव्याद् भिन्नः, तथाऽनुपलम्भात्, नाप्यसौ खरशृङ्गस्य, द्रव्यपरिणामत्वात्पर्यायस्य, खरविषाणस्य चाद्रव्यत्वात्, अत एव तत्खरशृङ्गं, अपर्यवमित्यद्रव्यं सन्न ज्ञायते केवलिना। यतो ज्ञानं ज्ञेयविषयं, ज्ञेयं च न खरशृङ्गम्, अपर्यवत्वेनाद्रव्यत्वात्, अत एवोक्तं निर्युक्तिकृता ' अपज्जवे जाणणा णत्थि ' त्ति । ज्ञेयत्वाभावव्याप्याद्रव्यत्वव्याप्यधर्मप्रदर्शनपरमेतत्, पर्यायनये उत्पादव्ययभागित्वमेव सत्त्वं, द्रव्यनयेऽविचलितैकस्वभावत्वं, सिद्धान्ते तु त्रैलक्षण्यमिति सिद्धान्तमाश्रित्य ततोऽपर्याये परिज्ञा नास्ति तस्मादुभयात्मकं वस्तु, केवलिना तथाऽवगतत्वादिति हरिभद्राचार्या निगमयामासुः ॥ तदेवं द्रव्यार्थिकः पर्यायं प्रतिक्षिपति पर्यायार्थिकस्तु द्रव्यमिति द्रव्यांशाप्रतिक्षेपान्नैगमो द्रव्यार्थिक इति व्यवस्थितम् ॥ न च तथा तज्जातीयेन पर्या-

द्रव्यनये पर्यायस्यौपचारिकत्वे भाष्यसंवादः अपर्यवत्वात्तः खरविषाणस्य केवलज्ञानाविषयत्वञ्च ॥

याप्रतिक्षेपात्पर्यायार्थिकत्वमपि स्यादिति वाच्यम्, 'यज्जात्यवच्छेदेन द्रव्याप्रतिक्षेपित्वं तज्जातीयस्य तन्नयत्वम्' इत्येवं परिभाषणात् ॥ वस्तुतः क्षणिकत्वादिविशेषणशुद्धपर्यायं नैगमो नाभ्युपगच्छत्येव । किञ्चित्कालस्थाय्यशुद्धतदभ्युपगमस्तु सत्तामहासामान्यरूपद्रव्यांशस्य घटादिसत्तारूपविशेषप्रस्तारमूलतयाऽशुद्धद्रव्याभ्युपगम एव पर्यवस्यतीति न पर्यायार्थत्वं तस्य, अत एव सामान्यविशेषविषयभेदेन सङ्ग्रहव्यवहारयोरेवान्तर्भावेन शुद्धाशुद्धद्रव्यास्तिकोऽयमिष्यत इति ॥ "दवट्ठियनयपयडी, सुद्धा संगहपरूवणाविसओ ॥ पडिरूवे पुण वयण-त्थणिच्छओ तस्स ववहारो ॥४॥"(कांड१)त्ति सम्मतिगाथायां पृथग् नोदाहृतः । अस्या अर्थः " द्रव्यास्तिकनयस्य प्रकृतिः स्वभावः, शुद्धा विशेषासंस्पर्शवती, संग्रहस्याभेदग्राहिनयस्य, या प्ररूपणा प्ररूप्यतेऽनयेति कृत्वाऽभिधायकपदसंहतिस्तस्या विषयः, उपचाराच्चदेकविषयेत्यर्थः । प्रतिरूपं प्रतिबिम्बं घटादिनाऽशुद्धद्रव्येण सङ्कीर्णा सत्तेतियावत् । तत्र, पुनस्तस्य द्रव्यास्तिकस्य, यो वचनार्थनिश्चयो निवृत्तिप्रवृत्त्युपेक्षालक्षणव्यवहारसम्पादकशब्दार्थनिर्णयः, स व्यवहारः, प्रतिरूपं सङ्कीर्णा सत्ता, पुनःशब्देन प्रकृतिः स्मार्यते, वचनं व्यवहारसम्पादकः शब्दः, घट इति विभक्तरूपतयाऽस्तीत्यविभक्तात्मतया प्रतीयमानस्तदर्थः, तस्य निर्गतः पृथग्भूतः, चयः परिच्छेदः, तथा च तस्य द्रव्यार्थिकस्य सङ्कीर्णसत्ताप्रकृतिर्वचनार्थनिश्चयो व्यवहार " इति टीकानुगतार्थः ॥ अत्र नैगमो न पृथग् जगृहे सङ्ग्रहव्यवहारविषयातिरिक्ततद्विषयासिद्धेरिति । येषां तु मते पृथक् नैगमनयो विद्यते ते प्रतिपत्तृभेदाम्नानातदभिप्रायं वर्णयन्ति । यतः केचिदाहुः "पुरुष एवेदं सर्वं " इत्यादि । यदाश्रित्योक्तं--"ऊर्ध्वमूलमधःशाख-मश्वत्थं प्राहुरव्ययम् ॥ छन्दांसि यस्य पर्णानि, यस्तं वेद स वेदवित् ॥ " ( गीता अ० १५ ) पुरुषोऽप्येकत्वनानात्वभेदात्कैश्चिदभ्युपगतो द्वेधा । नानात्वेऽपि

नैगमस्य द्रव्यार्थिकत्वमेव, सङ्ग्रहव्यवहारयोरेवान्तर्भावात्तदुक्तिः सम्मतौ, तद्व्याख्याने च तस्य पार्थक्ये नानाभिप्रायोपदर्शनञ्च ॥

तस्य कर्तृत्वाकर्तृत्वभेदः परैराश्रितः, कर्तृत्वेऽपि सर्वगतेतरभेदः। असर्वगतत्वेऽपि शरीरव्याप्त्यव्याप्तिभ्यां भेदः। व्यापित्वेऽपि मूर्त्तेतरविकल्पाद् भेद एव ॥ अपरैस्तु प्रधानकारणकं जगदभ्युपगतम्, तत्रापि कैश्चित्सेश्वरनिरीश्वरभेदोऽभ्युपगतः, अन्यैस्तु परमाणुप्रभवमभ्युपगतं जगत्। तत्रापि सेश्वरनिरीश्वरभेदाद् भेदोऽभ्युपगत एव। सेश्वरपक्षेऽपि स्वकृतकर्मसापेक्षत्वानपेक्षत्वाभ्यां तदवस्थ एव भेदाभ्युपगमः ॥ कैश्चित्स्वभावकालयदृच्छादिवादाः समाश्रिताः, तेष्वपि सापेक्षत्वानपेक्षत्वाभ्युपगमाद् भेदव्यवस्थाऽभ्युपगतैव ॥ तथा कारणं नित्यं कार्यमनित्यमित्यपि द्वैतं कैश्चिदभ्युपगतम्। तत्रापि कार्यं स्वरूपं नियमेन त्यजति न वा इत्ययमपि भेदाभ्युपगमः। एवं मूर्तैरेव मूर्तमारभ्यते, अमूर्तैरमूर्तं, मूर्तैरमूर्तम्, अमूर्तैर्मूर्तं इत्याद्यनेकधा निगमार्थः संमतिवृत्तौ व्यवस्थितः ॥ एतन्नयमालम्ब्य वैशेषिकदर्शनं प्रवृत्तं, तन्मते "द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायाख्याः षडेव पदार्थाः" तत्र द्रव्याणि पृथिव्यादीनि नवैव, गुणा रूपादयश्चतुर्विंशतिरेव, कर्मोत्क्षेपणादि पञ्चविधमेव, सामान्यं परम्, अपरम्, परापरं चेति त्रिविधं, विशेषो नित्यद्रव्यवृत्तयोऽनन्ता एव, समवायस्त्वेक एवेत्यादि निरपेक्षतया सामान्यविशेषाभ्यां बहुधा प्रपञ्चितं, तच्चायुक्तम्। नव द्रव्याणि चतुर्विंशतिर्गुणा इत्यादि—स्ववचनानुरोधेनैव संख्याया अतिरिक्तत्वात्, न च द्रव्य—गुणादिषु संख्याप्रतीतौ सम्बन्धांशेऽपि वैलक्षण्यमनुभूयते, येन द्रव्ये समवायेन तत्प्रतीतिर्गुणादौ तु संयुक्त [ स्वाश्रय ] समवायादिनेति वक्तुं शक्यते। किञ्च शक्तिरप्यतिरिच्यते मण्यादिसमवहितेन वह्निना दाहवारणाय मण्यादिसमवधानेन कुण्ठनीयाया नाश्याया वा दाहानुकूलाया वह्निनिष्ठायाः शक्तेः स्वीकार्यत्वात्। न चोत्तेजकाभावविशिष्टमण्याद्यभावस्यैव दाहहेतुत्वेन तत्र दाहवारणा-

नैगमीया नानाभिप्रायाः सम्मत्युक्ता दर्शिताः, एतन्नयमूलकं वैशेषिकदर्शनं तत्स्वरूपदर्श खण्डितञ्च ॥

च्छक्तिकल्पनावैयर्थ्यं । न चैवं गौरवं, तत्रापि तदभावस्य शक्त्यादिहेतुत्वस्वीकाराद्, वस्तुतो रूपादिध्वंसात्मकदाहे तद्धेतुत्वे गौरवान्मण्यादियुक्ते तृणादौ वह्न्याद्युत्पत्तेर्वारणीयाच्च विजातीयवह्नावेवोत्तेजकाभावविशिष्टमण्याद्यभावो हेतुः स्वजन्यवह्नेरेव स्वस्मिन् दाहजनकत्वान्मण्यादियुक्ते न दाह इति वाच्यम्, अपरिदृश्यमानानुद्भूतरूपविलक्षणवह्नेस्तज्जनकाऽदृष्टविशेषादेश्च कल्पनायां गौरवाद्दाहजनकशक्तिकल्पनाया एव न्याय्यत्वात् मण्यादिसमवधानापगमानन्तरं शक्त्युत्पत्तिस्त्वप्रतिबद्धस्वकारणादेवेत्याकरे व्यवस्थितम् ॥ अप्रतिबद्धत्वं च मण्यादिसमवधानापगमकालविशेषविशिष्टत्वं कालविशेषस्य सम्बन्धघटकत्वं च यथा त्वयाऽभावीयविशेषणताविशेषादौ वाच्यं, तथाऽस्माभिः कारणपरिणामविशेष इति युक्तमुत्पश्यामः ॥ किञ्च तृणादिजन्यवह्नौ वैजात्यस्यानानुभविकत्वात्तज्जन्यतावच्छेदकवैजात्यत्रयादिकल्पनातस्तृणादौ जनकतावच्छेदकैकशक्तिकल्पनैव लघीयसी । तृणनिर्मथनादितो वह्न्यनुत्पादस्तु तृणफूत्कारादिसमवधानस्याप्येकशक्तिमत्त्वेन हेतुत्वात्, किञ्च व्रीह्यादिजनननियामकोऽपि शक्तिविशेषोऽवश्यं कल्पनीयः । अन्यथा व्रीहिवापे व्रीह्यादीनामापरमाण्वन्तभङ्गे व्रीह्यारम्भकपरमाणुभिर्व्रीहय एव जन्यन्त इति नियमो न स्यात्, तैरपि कदाचिद्यवारम्भात् । न च पाकजविलक्षणरूपरसादिविशिष्टपरमाणूनां यवाद्यारम्भकत्वान्नोक्तनियमानुपपत्तिः, यत्र पाकजा न विशेषास्तत्र जलादौ क्वचिदुद्भूतं रूपादिकं क्वचिन्नेत्यत्र नियामकाभावात्तदनुकूलशक्तेरवश्यं स्वीकार्यत्वात्, न च तव शक्तिविशेषप्रयोजनकाददृष्टविशेषादेवोद्भूतरूपादिसम्भवः । परिणामवादे तथा तथा परिणतस्वकारणादेव शक्त्युत्पत्तेरभ्युपगमात्तत्रादृष्टविशेषहेतुत्वाकल्पनात् । न चादृष्टे पापपुण्यरूपे साङ्कर्यादनुगतविशेषसम्भवः । न चावयवोद्भूतरूपादिकमेवावयव्युद्भूतरूपादिजनकमिति नोक्तनियमानुपपत्तिः,

योग्यायोग्यजलारम्भकपरमाणुभेदाभ्युपगमे गौरवाद्वाय्वाद्याकृष्टसुरभिभागाद्यारब्धतायाश्चम्पकादावनुपपत्तेश्च । न चेष्टापत्तिः । एवं सति गृह्यमाणकर्पूरादिभागानां कर्पूराद्यनारम्भकाणामपगमाभ्युपगमे कर्पूरादेर्वाय्वादिनाऽप्रक्षयप्रसङ्गादिति दिग् ॥ वैशिष्ट्यमप्यतिरिच्यते, जलादौ वह्न्याद्यभावप्रमायाः सम्बन्धनियतत्वादभावस्य संयोगादिबाधादतिरिक्तसम्बन्धसिद्धेः । न च स्वरूपसम्बन्धेनैव तत्प्रमासम्भवान्न वैशिष्ट्यसिद्धिरतिरिक्तवैशिष्ट्यप्रमायामपि तथैव वाच्यत्वादिति वाच्यम् । समवायोच्छेदप्रसङ्गात् । न च गुणगुण्यादिस्वरूपद्वये सम्बन्धत्वमतिरिक्तसमवाये वेत्यत्र विनिगमकाभावेनापि तत्सिद्धिः, न चैवं प्रकृते, अभावस्याननुगतत्वेन तस्यैव सम्बन्धत्वादिति वाच्यम्, एवमपि जातिव्यक्तिस्थले समवायोच्छेदप्रसङ्गात् । न च समवायेन जन्यभावत्वसंयोगत्वाद्यवच्छिन्ने द्रव्यत्वादिना हेतुत्वात् समवायसिद्धिः, न च स्वरूपेण तत्सम्भवः, स्वरूपाणामानन्त्येन गौरवात्कालिकादिस्वरूपेण स्पन्दादेरपि जन्यभाववत्त्वाच्चेति वाच्यम् । तथापि कालिकविशेषणतादिभिन्नपदार्थमात्राधारतानियामकसम्बन्धस्यैव सिद्धौ तस्यैव वैशिष्ट्याभिधानत्वात्तेन जन्यभावादेः कार्यत्वोक्तौ दोषाभावात् । न च प्रतियोगितया घटादिसमवेतनाशे स्वप्रतियोगिसमवेतत्वेन घटादिनाशस्य हेतुत्वात् समवायसिद्धिः, स्वप्रतियोगिवृत्तित्वेन हेतुत्वे घटादिवृत्तिध्वंसध्वंसापत्तेरिति वाच्यम् । तत्रापि जात्यादौ तदापत्तेर्महाप्रलयावृत्तित्वेन सत्त्वेन वा प्रतियोगिनो हेतुत्वध्रौव्ये ममापि ध्वंसे तदनापत्तेः । न च स्वप्रतियोगिसमवायिकारणत्वेन कालावच्छिन्नस्वप्रतियोगिसमवेतत्वेन वा नाशकत्वस्वीकारान्मम न जात्यादौ तदापत्तिरिति वाच्यम् । सम्बन्धमध्ये समवायिकारणत्वकालावच्छिन्नत्वप्रवेशापेक्षया लाघवात्सत्त्वनिवेशस्यैवौचित्येन मत्पक्ष एव दोषाभावात् । न च घटादिसमवेतनाशमात्रे न घटादिनाशो हेतुः, घटादिकालीनतद्वृत्ति-

वैशेषिकमतखण्डनप्रसङ्गेऽतिरिक्तवैशिष्ट्यस्थापनेन समवायखण्डनं विस्तरतः ॥

क्रियासंयोगविभागवेगद्वित्वादिनाशे व्यभिचारात्, किन्तु प्रतियोगितया स्वप्रतियोगिसमवेतत्वस्वाधिकरणत्वोभयसम्बन्धेन नाशवन्नाशत्वावच्छिन्न एव स्वप्रतियोगिसमवेतत्वेन नाशत्वावच्छिन्नस्य हेतुत्वान्न जात्यादेर्नाशापत्तिः, परस्य तु ध्वंसध्वंसापत्तिर्दुर्वारेति वाच्यम् । स्वाधिकरणत्वस्थाने कालिकसम्बन्धेन स्ववृत्तित्वस्य सम्बन्धमध्यनिवेशे दोषाभावात्प्रतियोगिनो विशिष्य हेतुत्वेन ध्वंसध्वंसानापत्तेश्च । किञ्च रूपाभावान्यमहद्वृत्तिचाक्षुषे चक्षुःसंयुक्तमहदुद्भूतरूपवद्वैशिष्ट्यस्य हेतुत्वात्तत्सिद्धिः । न चैवमपि महत्त्वाभावरूपाभावयोश्चाक्षुषे कार्यकारणभावद्वयान्तरावश्यकत्वे रूपाभावान्यद्रव्यवृत्त्यभावचाक्षुषे चक्षुःसंयुक्तोद्भूतरूपवद्विशेषणता महत्त्वाभावान्यद्रव्यवृत्त्यभावचाक्षुषे चक्षुःसंयुक्तमहत्त्ववद्विशेषणता, महत्समवेतचाक्षुषे चक्षुःसंयुक्तमहदुद्भूतरूपवत्समवायो हेतुरिति कल्पनाया एव युक्तत्वमिति वाच्यम् । कार्यतावच्छेदके चरमाभावत्वाप्रवेशे द्वितीये च द्रव्यभेदप्रवेशे प्रथमद्वितीयाभ्यामेव निर्वाहेन तृतीयकार्यकारणभावाकल्पनेन वैशिष्ट्यवादिनो लाघवात् । न चैवं तव पार्थिवाणुघ्राणमात्रेन्द्रियसन्निकर्षे पृथिवीत्वादिप्रत्यक्षतापत्तिः, तवापि तन्मात्रसन्निकर्षाज्जलत्वाभावादिप्रत्यक्षतापत्तेः । एतद्भिया च त्वया रूपाभावप्रत्यक्षे चक्षुःसंयुक्तमहत्त्ववद्विशेषणता, महत्त्वाभावचाक्षुषे चक्षुःसंयुक्तोद्भूतरूपवद्विशेषणता, रूपमहत्त्ववद्वृत्ते रूपाभावमहत्त्वाभावभिन्नस्याऽभावस्य चाक्षुषे चक्षुःसंयुक्तमहदुद्भूतरूपवद्विशेषणता हेतुरित्यभावप्रत्यक्ष एव त्रयं वाच्यम् । भावप्रत्यक्षे चान्यत् । तथा च तृतीये कार्यतावच्छेदकेऽभावत्वाप्रवेशे भावप्रत्यक्षेऽपि वैशिष्ट्यवादिनो निर्वाहः ॥ एवंच चक्षुःसंयुक्तसमवायादेरप्यस्वीकाराल्लाघवमिति चक्षुरप्राप्यकारित्वे द्रव्यचाक्षुषेऽपि चक्षुराभिमुख्यमेव नियामकमिति गुणादिचाक्षुषेऽपि तदेव नियामकं युक्तमिति सन्निकर्षमात्रान्यथासिद्धिकारकं तदप्यतिरिच्यत इति मदेकपरिशीलितो

लतादिविदितः पन्थाः ॥ द्रव्यजात्यन्यचाक्षुषे महदुद्भूतरूपवद्भिन्नसमवेतत्वेन प्रतिबन्धकत्वात्समवायसिद्धिरित्यन्ये । जात्यन्यत्वस्थाने नित्यान्यत्वनिवेशात्रेदं युक्तमित्यपरे । द्रव्यजात्यन्यत्वस्थाने द्रव्यान्यसत्त्वनिवेशेऽपि न क्षतिरित्यपि बोध्यम् ॥

सादृश्यमप्यतिरिच्यते तद्भिन्नत्वे सति तद्गतभूयोधर्मवत्त्वेन तद्बुद्धेरनुपपत्तेरुत्कर्षापकर्षादिवत्तस्य वैलक्षण्येनैवानुभवात् ॥ कारणत्वमप्यतिरिच्यते अनन्यथासिद्धत्वे सति नियतपूर्ववर्त्तिताया अतत्त्वात् ॥ तथाहि, अनन्यथासिद्धत्वमन्यथासिद्धभिन्नत्वम् ॥ अन्यथासिद्धं च पञ्चविधम् । तत्र 'येन सहैव यस्य यं प्रति पूर्ववृत्तित्वं गृह्यते तदाद्यं,' यथा दण्डादिना सहैव दण्डरूपादेर्घटादिकं प्रति पूर्ववर्तित्वग्रहाद्दण्डरूपादिकं, दण्डादिनात्र साहित्यं पूर्ववर्तित्वग्रहे विशेष्यतावच्छेदकत्वं, रूपादावेव पूर्ववर्तित्वग्रहाद्विशेष्यत्वमित्यन्ये ॥ अत्र येन पृथगन्वयव्यतिरेकवता यस्य तद्रहितस्येति वाच्यम् । तेन दण्डत्वादिना दण्डादेर्नान्यथासिद्धिः, न वा दण्डसंयोगादेर्दण्डादिना, सत्यपि दण्डादौ विना तत्संयोगादिकं कार्यव्यतिरेकात्तस्य पृथगन्वयादिमत्त्वात् ॥ न चैवं दण्डादेरपि पृथगन्वयादिमत्त्वादेव न दण्डत्वादिनाऽन्यथासिद्धिरिति, येन पृथगन्वयादिमतेति व्यर्थम् ॥ स्वाश्रयसंयोगेन सति दण्डत्वादौ दण्डादिव्यतिरेकासिद्धेर्दण्डादेरतथात्वात् ॥ न चैवं सति दण्डसंयोगादौ दण्डादिव्यतिरेकाद् घटादिव्यतिरेकासिद्धेर्दण्डादेः पृथगन्वयाद्यभावात् येन पृथगन्वयादिमतेत्यत एव दण्डसंयोगादेरनन्यथासिद्धौ तद्रहितस्येति व्यर्थमिति वाच्यम् । चक्षुःकपालादिना तत्संयोगान्यथासिद्धिवारणार्थं तदुपादानात्, तत्संयोगे सत्यपि चक्षुःकपालादिनाशकाले तद्व्यतिरेके कार्यव्यतिरेकाच्चक्षुःकपालादेः पृथगन्वयादिमत्त्वात् ॥ नन्वेवमपि दण्डादेर्दण्डत्वादित इव दण्डरूपादेरपि पृथगन्वयाद्यभावात् कथं तेन तद्रूपान्यथासिद्धिरिति चेत्, न, पृथगित्यादेस्तदन्वयव्यतिरेकाऽनियतान्वयव्य-

सादृश्यकारणत्वयोरतिरिक्तपदार्थतया व्यवस्थापनम्, न्यायाभिमतकारणत्वलक्षणेऽन्यथासिद्धिनिरूपणञ्च ॥

तिरेकशालित्वं नार्थः, किन्तु तदन्वयाद्यघटितान्वयादिमत्त्वं, इत्थं च दण्डदण्डत्वयोर्न मिथस्तथात्वं दण्डत्वतत्समवायदण्डसंयोगादीनामुभयशरीरघटकत्वात्, दण्डादेस्तु तद्रूपादेस्तथात्वं, दण्डाद्यन्वयस्य तद्रूपाद्यन्वयघटकतत्समवायाघटितत्वात्, न तु दण्डरूपादेर्दण्डादितः, तद्रूपाद्यन्वयस्य तदन्वयघटितत्वात्, चक्षुःकपालादेरन्वयः कालिकतादात्म्यादितस्तत्संयोगस्य तु समवायत इति मिथस्तत्त्वमेवेत्यदोषात् ॥ न चैवं विनापि दण्डादिज्ञानं रूपत्वादिना दण्डरूपादौ घटादिपूर्ववर्तित्वग्रहसम्भवाद्रूपत्वादिना तद्धेतुत्वापत्तिः । प्रत्यक्षेण ग्रहे नियमोक्तौ च द्व्यणुकादिकं प्रति परमाण्वादिना तद्रूपादेरन्यथासिद्ध्यनापत्तिः, नियमाविवक्षायां तु वैपरीत्यमपि स्यादिति वाच्यम् ॥ पूर्ववर्तित्वमित्यस्यान्वयव्यतिरेकित्वमित्यर्थात्, न च तदतिप्रसक्तेन रूपत्वादिना सुग्रहमिति ॥१॥ 'अन्यं प्रति पूर्ववर्त्तित्वे ज्ञात एव यं प्रति यस्य पूर्ववर्तित्वं गृह्यते तद्द्वितीयम्,' यथाकाशस्य शब्दं प्रति पूर्ववर्तित्वे ज्ञात एव ज्ञानघटादिकं प्रति तद्ग्रहादाकाशो ज्ञानघटादौ । न च शब्दाश्रयत्वेनान्यथासिद्धत्वमाद्येनैवेति किमनेनेति वाच्यम्, अष्टद्रव्यान्यत्वादिना तथात्वायैतदुक्तेः, शब्दस्य घटादिकं प्रति पृथगन्वयव्यतिरेकरहिततया तेन प्राक्तनान्यथासिद्धेर्दुर्वचत्वाच्च ॥ ननु शब्दो द्रव्याश्रितो गुणत्वादित्याद्यनुमानाच्छब्दाश्रयत्वादिनोपस्थिते आकाशे विनापि शब्दपूर्ववृत्तित्वग्रहं ज्ञानघटादिपूर्ववर्तित्वग्रहसम्भव इति चेत्, न, शब्दो द्रव्यहेतुको जन्यगुणत्वादित्याद्यनुमानादेव कार्यकारणभावलक्षणानुकूलतर्कप्रयुक्तात्तत्सिद्धेः । न चैवं संयोगविभागादावप्याकाशस्याहेतुत्वापत्तिः, द्रव्यत्वेन तद्धेतुत्वसम्भवात् ॥ अत एवाधारत्वेन कालदिशोः कार्यसामान्यहेतुत्वं निष्प्रत्यूहम् । विनापि कालिकपरत्वादिपूर्ववर्तित्वग्रहमाधारत्वेन पूर्ववर्तित्वग्रहसम्भवात् ॥ न चैवं विभुत्वेनाकाशस्यापि कार्यसामान्यहेतुत्वं स्यात्, आत्मत्वव्यापकविभुत्वेनान्यथासिद्धेः । न च स्वर्गादिपूर्ववर्तित्वेन

गृहीत एव यागादावपूर्वपूर्ववर्तित्वग्रहाद् यागादिकमपूर्वादावन्यथासिद्धम्, अन्यं प्रति पूर्ववर्तित्वानुपपादकं यस्य पूर्ववर्तित्वं गृह्यत इत्यर्थात्, वस्तुतोऽन्यं प्रति पूर्ववर्त्तित्वग्रहनियतो यं प्रति यद्धर्मावच्छिन्नस्य पूर्ववर्तित्वग्रहस्तं प्रति तद्धर्मावच्छिन्नमन्यथासिद्धमित्यर्थात्, यागादेः सुखहेतुतया विहितत्वेनापूर्वं प्रत्यन्यथासिद्धत्वेऽपि यागत्वादिना हेतुत्वं निष्प्रत्यूहम्, आकाशस्यापि ज्ञानघटादौ शब्दजनकत्वेनैवैतदन्यथासिद्धत्वं, शब्दाश्रयत्वेन त्वन्यत्र क्लृप्तेत्यादिनैव, न चैवं मननव्यापारकश्रवणत्वभ्रमिजनकत्वादिना जनकत्वानुपपत्तिः, अन्यं प्रति पूर्ववर्तित्व एवेत्यत्र फलाननुगुणमन्यं प्रतीति वाच्यत्वात्।

दीधितिकृतस्तु फलाननुगुणमन्यं प्रतीति न वाच्यम्। अत एव परामर्शजनकत्वेन तद्व्याप्तिज्ञानानां न कारणत्वमेतदन्यथासिद्धेः। न चैवं भ्रमिजनकत्वलक्षणदृढत्वेन दण्डे घटहेतुत्वं न स्यात्, इष्टत्वात्, दण्डत्वेनैव तत्त्वात्, क्वचिद्घटानुत्पादस्य भ्रमिरूपद्वाराऽभावेन सम्भवात्, क्षुद्रचक्रभ्रमिसमर्थान्महाचक्रसहिताद् दण्डाद्घटानुत्पत्तौ तथैव वाच्यत्वादित्याहुः ॥२॥ 'अन्यत्र क्लृप्तनियतपूर्ववर्तिन एव कार्यसम्भवे तत्सहभूतं तृतीयम्,' यथा गन्धं प्रत्यन्यत्रक्लृप्तपूर्ववर्तिताकगन्धप्रागभावेन तत्सहभूतरूपप्रागभावादि पाकजगन्धं प्रत्यन्यथासिद्धं, यथा वा घटान्तरं प्रति क्लृप्तपूर्ववर्तिताकदण्डादिजातीयेन तत्सहभूतं तद्रासभादिकं तद्घटादौ, दण्डादिना चक्रादेर्मिथोऽन्यथासिद्धिवारणायोक्तं कार्यसम्भव इति॥ न च पञ्चम्यर्थहेतुत्वप्रवेशे आत्माश्रयः, पृथगन्वयव्यतिरेकराहित्ये सत्यन्यत्रक्लृप्तनियतपूर्ववर्तिताकसहभूतमित्यर्थस्य वाच्यत्वात्, हन्तैवं रूपप्रागभावेनैव गन्धप्रागभावः किं नान्यथासिद्धः पृथगन्वयव्यतिरेकसाहित्यराहित्ययोरुभयत्र तौल्यात्। मैवम्। अन्यत्रक्लृप्तेत्यस्यावश्यक्लृप्तेत्यर्थकरणात्, अवश्यक्लृप्तश्च गन्धप्रागभाव एव, गन्धरूपप्रतियोग्युपस्थितौ शीघ्रोपस्थितिलाघवात्, इत एव मह-

न्यायाभिमतकारणत्वखण्डनेऽन्यथासिद्धिनिरूपणम्, तत्र दीधितिकृन्मतमुपदर्शितम् ॥

स्वस्यान्यत्रक्लृप्तत्वाभावेऽप्यनेकद्रव्यवत्त्वं द्रव्यचाक्षुषादौ तेनान्यथासिद्धं, महत्त्वस्य शरीरलाघवेनावश्यकत्वात्, अत एव
च व्यापकधर्मावच्छिन्नस्य व्याप्यधर्मावच्छिन्नेनान्यथासिद्धिः, कारणाल्पत्वलाघवात् । न चैवं सम्बन्धलाघवाद्दण्डादिनाऽऽव-
श्यकेन दण्डरूपादेरित एवान्यथासिद्धौ प्रथमवैयर्थ्यं, तल्लाघवकृतावश्यकत्वस्यात्राप्रवेशात् ॥३॥ 'यमादायैव यस्यान्वयव्यतिरे-
कौ गृह्येते तेन तदन्यथासिद्धमिति चतुर्थम्,' यथा घटम्प्रति दण्डेन दण्डत्वम्, आद्येऽवच्छेदकेनावच्छेद्यस्यात्र चावच्छेद्येनावच्छे-
दकस्यान्यथासिद्धिरिति भेदः।४। 'स्वजन्यस्य यं प्रति पूर्ववर्तित्वे ज्ञाते स्वस्य तत्त्वं ज्ञायते तं प्रति स्वमन्यथासिद्धमिति पञ्चमं'॥
यथा घटं प्रति कुलालेन तत्पिता, घटं प्रत्यस्य साक्षादहेतुत्वेन कुलाले घटजनकत्वं ज्ञात्वैव तद्द्वारा तस्य पूर्वभावग्रहात् ॥
तदुक्तं मणिकृता—" यत्र जन्यस्य पूर्वभावं ज्ञात्वा जनकस्य तद्ग्रहस्तत्र जन्येन जनकमन्यथासिद्धं, यत्र तु जनकस्य पूर्व-
भावं ज्ञात्वा जन्यस्य तद्ग्रहस्तत्र तद्द्वारा जनकत्वं यागस्येवापूर्वद्वारेति " ॥ न चायमाद्येन सङ्गृह्यते, भ्रमिजनकत्वादिना
हेतुत्वरक्षायै तत्र यस्येति यत्पदार्थे येनेति यत्पदार्थनियतपूर्ववर्तिभिन्नस्येति विशेषणध्रौव्यात् । नापि द्वितीयेन, तत्र फलानु-
गुणं प्रतीति वाच्यत्वादिति दिग् ॥५॥ तृतीयचतुर्थ्योरभेदात्पञ्चम्याश्च द्वितीयस्यामन्तर्भावात्रिधैवान्यथासिद्धिरिति केचित् ।
परे त्वेकैवान्यथासिद्धिरवश्यक्लृप्तेत्याद्या, नानाविधलाघवकृतावश्यकत्वप्रपञ्चार्थमन्याभिधानमित्याहुः ॥ अथ कपालादेर्द्र-
व्यत्वादिनाऽन्यथासिद्धत्वात्कपालत्वादिनापि हेतुत्वं न स्यादिति चेत्, न । अन्यथासिद्ध्यनिरूपकनियतपूर्ववर्तितावच्छेदक-
रूपवत्त्वं तत्त्वमित्यदोषात् । धूमाद्यनुपधायकवह्न्यादिसाधारण्यायावच्छेदकरूपनिवेशः ॥ धूमादौ रासभादेर्धूमध्वंसादेश्च हेतु-
त्ववारणाय नियतपूर्ववर्तीति नियमतोऽव्यवहितपूर्वकालवर्तीत्यर्थः । न च धूमाव्यवहितपूर्वकाले क्वचिद्रासभादेरपि सत्त्वादे-

तद्रासभाद्यव्यावर्तकं, तद्रासभत्वादिना रासभादिव्यावर्तकत्वेनास्य सफलत्वात्, रासभत्वादिना त्वन्यथासिद्धेरेवाहेतुत्वात् ॥ न च तद्रासभत्वादिनापि तत एवाहेतुत्वं, तद्धूमादिकं प्रति तद्विरुद्धदिकालतद्रासभादेस्तत्कारणासहभूतत्वेन यथोक्तान्यथासिद्ध्यभावात्, विशेष्यभागसाफल्याय नियतपूर्ववर्तितावच्छेदकेन येन कारणत्वाव्यवहारस्तद्रूपेणैवान्यथासिद्धेर्वाच्यत्वाच्च । यद्वा दैशिकव्यापकतावच्छेदकत्वमपि नियतपूर्ववर्तितावच्छेदकविशेषणं, इत्थं च दैशिकव्यापकताशालितत्तद्धूमादेर्मिथो हेतुत्ववारणाय कालिकव्यापकत्वनिवेशः ॥ अत एव दैशिककालिकव्यापकताद्वयगर्भमेकमेव कारणत्वमिति वदन्ति । वस्तुतो धूमत्वाद्याश्रया यावन्तः प्रत्येकं तत्तदव्यवहितपूर्वकालावच्छेदेन तत्तदधिकरणे विशेषणतया वर्तमानस्याभावस्य कारणतावच्छेदकतत्तत्सम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगितानवच्छेदकरूपवत्त्वं तत्, तत्तद्द्रव्ये तत्तच्चरमसंयोगस्य चाक्षुषादौ चक्षुरादेश्च कालिकेनैव हेतुत्वेऽपि तत्तत्कार्याधिकरणे स्थूलकाले तत्तत्कार्याव्यवहितप्राक्कालावच्छेदेन वर्तमानत्वमभावस्य सुलभं, तेन तत्कार्याधिकरणक्षणे तदसत्त्वेऽपि न क्षतिः ॥ न च तत्तद्धूमाद्यधिकरणावच्छेदेन तत्तदव्यवहितपूर्वकाले विशेषणतयेत्यादिकमप्यस्त्विति व्यापकताद्वयगर्भत्वमत्राप्यावश्यकं, तयोरैक्यात् कार्यतावच्छेदकसम्बन्धेन कार्यस्य व्यापकतायाः कारणताघटकत्वौचित्याच्च ॥ न चास्तु धूमादेः कार्यमात्रस्य कालिकेनापि कार्यत्वं विनिगमनाभावात्, यदधिकरणावच्छेदेन काले कारणं तदधिकरणे कार्यमित्यतोऽपि देशनियमसम्भवादिति वाच्यम्। तादात्म्येन तन्तुसम्बन्धितन्त्ववच्छेदेन काले तन्त्वभावात्तन्तौ पटानुत्पत्तिप्रसङ्गात्। अत्र धूमत्वावच्छिन्नाव्यवहितपूर्वत्वमसिद्धम् । नहि 'धूमप्रागभावाधिकरणत्वे सति धूमप्रागभावाधिकरणसमयप्रागभावानधिकरणसमयत्वलक्षणं' धूमत्वावच्छिन्नाव्यवहितपूर्वत्वं सम्भाव्येतापि, सर्वस्यैव समयस्य यत्किञ्चिद्धूमप्रागभावाधिकरणसमयप्रागभावा-

अन्यथासिद्धिनिरूपणं, तत्र विशिष्यकारणत्वलक्षणप्रदर्शनम् ॥

धिकरणतया तदन्यत्वाभावात्, तद्धर्माश्रययत्किञ्चिदव्यवहितपूर्वत्वगर्भनियमोऽपि नोपादेयः, द्रव्यत्वजन्यद्रव्यत्वाद्यवच्छिन्नं प्रत्यपि कपालादिना हेतुतापत्तेरिति धूमत्वाद्याश्रया यावन्तः प्रत्येकं तत्तदव्यवहितपूर्वकालावच्छेदेनेत्युक्तम्। अत एव कार्यमात्रवृत्तिधर्मस्यैव कार्यतावच्छेदकत्वमिति प्राचीनगाथापि सङ्गच्छते। अथात्र शिखराद्यवच्छेदेन वह्न्यभावसत्त्वादव्याप्तिः। प्रतियोगिव्यधिकरणत्वनिवेशे तु धूमध्वंसातिव्याप्तिरिति चेत्, न, देशानवच्छिन्नविशेषणतया वर्तमानत्वस्य वाच्यत्वात्। न च वह्न्यभावः पर्वतादौ देशानवच्छिन्नविशेषणतया वर्तते। वृत्त्यनियामकसम्बन्धस्य प्रतियोगितानवच्छेदकत्वे तु तत्तत्कार्याव्यवहितपूर्वकालावच्छिन्नतत्तत्कारणतावच्छेदकसम्बन्धेन प्रतियोगिव्यधिकरणत्वं निवेश्यम्। अतो न यागादेः स्वजन्यापूर्वसम्बन्धेन हेतुत्वं दुर्घटं, न वा धूमध्वंसेऽतिव्याप्तिः, न वा प्रागुक्तरीत्यापि धूमसंयोगाभावेऽतिव्याप्त्यनिवृत्तिः, धूमावयवसंयोगाभावे त्वाद्यान्यथासिद्धेरिव नातिव्याप्तिरिति बोध्यम्। इत्थं च कालिकेन यत्र कारणत्वं तत्र तत्तत्कार्याव्यवहितप्राक्कालत्वव्यापकतावच्छेदकरूपवत्त्वमेव तत्। यदि च द्विकपालघटादौ तत्संयोगस्य विनिगमनाविरहात्कालिकेन दैशिकेन च कारणत्वं तदा तत्रैकैकव्यापकतागर्भमेकैकमेव कारणत्वं तत्रैव व्यापकताद्वयगर्भमेकं कारणत्वम् ॥ धूमत्वाद्याश्रया यावन्तः प्रत्येकं तत्तदव्यवहितपूर्वकालावच्छेदेन तत्तदधिकरणे तत्तत्सम्बन्धेन सम्बन्धिवृत्तिरूपवत्त्वमेव वा तत्, यावत्साधनाश्रयाश्रितत्वस्य व्यापकतारूपत्वात्। कालिकेन कारणमपि प्राक्कालावच्छेदेन कार्याधिकरणस्थूलकालसम्बन्धि, यागादिकं च स्वजन्यापूर्वसम्बन्धेन तथा। तादृशसम्बन्धिवृत्तिधर्मस्वव्यापारान्यतरवत्त्वं वाच्यमित्यन्ये। न चाव्यवहितत्वांशत्यागेन तत्तत्पूर्वसमयावच्छेदेनेत्येतावदेवोच्यताम्, अव्यवहितपूर्वसमयावच्छेदेन कार्यवति यदभावो ज्ञायते तत्र

कारणताबुद्ध्यनुदयेन तन्निवेशात् । अथेदृशकारणत्वग्रहेऽस्तु व्यतिरेकव्यभिचारज्ञानं विरोधि, अन्वयव्यभिचारज्ञानं तु कुत इति चेत्, अवश्यकल्प्येत्याद्यन्यथासिद्धिज्ञानप्रयोजकत्वात् । समूहान्वयव्यतिरेकाभ्यां समूहे कारणत्वग्रहे तदितरगृहीततत्कार्यकारणताकसमूहसत्त्वे तद्व्यतिरेकेऽवश्यं कार्यव्यतिरेकस्तावत्समूहसत्त्वे तत्सत्त्वे चावश्यं तत्कार्यसत्त्वमित्यन्वयव्यतिरेकयोर्ग्रहो विशिष्य तत्कारणत्वग्राहकः, तयोर्ग्रहे चान्वयव्यतिरेकव्यभिचारज्ञानं विरोधीत्यप्याहुः ॥ अत्र येन सहेत्यादिकमयुक्तं, येन पृथगन्वयादिमता यस्य तद्रहितस्येत्युक्तौ नियमादिप्रवेशवैकल्यात्, पृथगन्वयादिमतेत्यादेरनुगतानतिप्रसक्तस्य दुर्वचत्वाच्च ॥ अन्यं प्रतीत्यादिकमप्ययुक्तम्, ईश्वरज्ञानादेः क्षित्यादिपूर्ववर्तित्वेन गृहीतस्यैव घटादिपूर्ववर्तित्वग्रहाद् घटादावन्यथासिद्ध्यापत्तेः । क्षित्यादिपूर्ववर्तित्वग्रहादेव कार्यमात्रे तद्धेतुत्वसिद्धिरिति चेत्, तथापि शब्दसाक्षात्कारे गगनस्यान्यथासिद्ध्यापत्तिः ॥ इन्द्रियत्वेन तत्र हेतुत्वग्रहाददोष इति चेत्, न, तथापि श्रावणत्वावच्छिन्ने श्रोत्रत्वेनाहेतुत्वप्रसङ्गात् । अवश्यकल्प्येत्यादिकमप्यावश्यकत्वस्य दुर्वचत्वान्न युक्तम् । न चान्यथासिद्ध्यनिरूपकनियतपूर्ववर्तिताकरूपवत्त्वं हेतुत्वं, तत्रान्यथासिद्ध्यनिरूपकत्वं च येन नियतपूर्ववर्तितावच्छेदकेन कारणत्वं न व्यवह्रियते तत्तद्भेदसमूहस्तावदन्यतमत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताक एक एव भेदो वा कारणतायां निविशत इति नाननुगमदोषो न वान्यथासिद्धिनिरूपकेण कारणत्वभ्रमानुपपत्तिरिति वाच्यम् ॥ उक्तभेदसमूहे प्रतियोगिकोटावुदासीनप्रवेशाप्रवेशाभ्यां विनिगमनाविरहात्, प्रतियोग्यविशेषिताऽखण्डभेदाभ्युपगमे च सर्वत्राखण्डाभाववत एवाऽखण्डाभावस्यैव वा हेतुत्वं स्यादिति बहु विप्लवेत । किञ्चैवं विशेष्यभागोऽपि वैयर्थ्यमाप्नुयादकारणभेदस्यैवाखण्डस्य कारणतालक्षणत्वसम्भवात् । तस्मादिष्टसाधनत्वादिज्ञानकारणतावच्छेदक-

अन्वयव्यतिरेकव्यभिचारज्ञानयोः कारणत्वग्रहविरोधित्वोपपादनम्, परदर्शितान्यथासिद्धिलक्षणकारणत्वलक्षणान्तरखण्डनञ्च ॥

[illegible]

[illegible]

[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]

[illegible]

[illegible]

॥ ९६ ॥

॥ ९६ ॥

[illegible]

॥ ६६ ॥

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible] ॥१–९॥ [illegible]

[illegible] ॥१–१०॥ [illegible]

[illegible] ॥१–११॥ [illegible]

॥ ९८ ॥

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

॥ ४६ ॥

[illegible]

[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]

[illegible]

सम्भवेप्यनारोपितं सर्वोपाधिनिरपेक्षं प्रतिनियतकार्यजनकं यद्वस्तुस्वरूपं यदनन्तरं पूर्वमदृष्टं वस्त्वन्तरं प्रादुर्भवद्दृश्यते तत्प्रतिषेधस्य कर्तुमशक्यत्वात् । न च शब्दविकल्पानां यत्र व्यावृत्तिस्तत्र वस्तुस्वभावोऽपि व्यावर्तते, यतो व्यापकस्वभावः कारणं वा व्यावर्तमानं स्वव्याप्यं स्वकार्यं वाऽऽदाय व्यावर्तते इति युक्तं, तयोस्ताभ्यां प्रतिबन्धात्, न च पयसो दध्नि शक्तिरित्यादिव्यपदेशो विकल्पो वा भावानां व्यापकस्वभावः कारणं वा येनासौ निवर्तमानो वस्तुस्वभावं निवर्तयेत्, व्यपदेशविकल्पा हि न वस्तुस्वभावायत्ताः, किन्तु यदृच्छाजन्मानः, एकत्रैव शब्दादौ नित्यानित्यादिरूपेण वादिनां नानाविकल्पप्रवृत्तेः । एवमपि यद्यवधिनिरूपितत्वं शक्तौ तदभेदपर्यवसितमिति तत्कुक्षिप्रविष्टत्वमवधीनां स्वीक्रियते, तदा घटाभावः पटाभाव इत्यादिव्यवहारानुरोधेन घटादीनामभावकुक्षिप्रविष्टत्वादभावे घटादिसत्त्वमपि प्रसज्येत, चैतन्यं जडभिन्नमित्याद्यनुरोधाच्चैतन्येपि च जडसत्त्वमासज्येत, तथा च महदासमञ्जस्यमितिदिग् ॥ किञ्च सत्कार्यवादे बन्धमोक्षाभावोऽपि सांख्यानामासज्यते, प्रधानपुरुषयोः कैवल्योपलम्भलक्षणतत्त्वज्ञानोत्पत्तौ ह्यपवर्गस्तैरिष्यते, तत्त्वज्ञानं च सर्वदा व्यवस्थितमेवेति सर्व एव देहिनोऽपावृताः स्युः, मिथ्याज्ञानवशाच्च तैर्बन्ध इष्यते, तस्य च सर्वदा व्यवस्थितत्वात्सर्वेषां बद्धत्वमिति कुतो मोक्षः । नित्यमुक्त एवात्मा कण्ठगतचामीकरन्यायेनाप्राप्तिभ्रमादेव तदर्थं प्रवृत्तिरित्यपि दुर्वचनं, प्राप्तेः सत्त्वेऽप्राप्तिभ्रमायोगात्, असत्त्वे चानुत्पत्तेः । यदपि भेदानामन्वयदर्शनात्प्रधानास्तित्वमुक्तं, तत्रापि हेतोरसिद्धत्वं पर्यायास्तिकनयानुसारिण उद्भावयन्ति, तथा हि, नहि शब्दादिलक्षणं व्यक्तं सुखाद्यन्वितं सिद्धं, सुखादीनां ज्ञानरूपत्वात्, शब्दादीनां च तद्रूपविकलत्वात्, न च सुखादीनां ज्ञानरूपत्वमसिद्धं, स्वसंवेदनरूपतया स्पष्टमनुभूयमानत्वात्तत्त्वसिद्धेः, तथाहि, स्पष्टेयं

सुखादीनां प्रीतिपरितापादिरूपेण शब्दादिविषयसन्निधाने प्रकाशान्तरनिरपेक्षा प्रकाशात्मिका स्वसंवित्तिः, यच्च प्रकाशान्तरनिरपेक्षं सातादिरूपतया स्वयं सिद्धिमवतरति तद् ज्ञानं, संवेदनं, चैतन्यं, सुखमित्यादिभिः पर्यायशब्दैरभिधीयते, न च सुखादीनामन्येन संवेदनेन वेदनादनुभूयमानता, तत्संवेदनस्यासातादिरूपताप्रसक्तेः, नहि योगजप्रत्यासत्त्याऽनुमानादिना वा परकीयसुखादिसंवेदने सातादिरूपता दृष्टा । भोगाख्यलौकिकमानससाक्षात्कारेणानुभवादनुभूयमानता सुखादेः, न तु स्वयंवेदनादनुभूतिरूपतेत्यपि वार्तं, चन्दनादिस्पर्शनसामग्रीकाले सुखादिमानसानुपपत्तेर्मानससामग्र्याः सर्वतो दुर्बलत्वात्, तत्र भोगान्यत्वनिवेशे गौरवात्, भोगत्वावच्छिन्नं प्रति वैजात्येन सुखदुःखयोरेव हेतुत्वे भोगाख्यमानसे चन्दनादिभानानुपपत्तेः चन्दनादिभान एव विलक्षणे भोगत्वकल्पनौचित्यात्, इदं चन्दनमिति बहिर्मुखाकारेण चन्दनादिभानेऽपि चन्दनीयं सुखमिदं जातमित्यन्तर्मुखाकारेण सुखस्यापि तत्क्षणमेवानुभवात्, अतिरिक्ततज्ज्ञानतत्सामग्र्यादिकल्पने गौरवात् । एतेन ' मानसत्वावच्छिन्नं प्रति मानसान्यज्ञानसामग्र्याः प्रतिबन्धकतायां वैजात्येन सुखदुःखयोरुत्तेजकत्वमेवास्तु ' इत्यपि निरस्तम् । तदुत्तेजकत्वकल्पनायामपि गौरवात्, वैजात्येन सुखदुःखयोर्वा तत्रोत्तेजकत्वं मनःसंयोगविशेषादेर्वेति विनिगमनाविरहाच्चेति नव्यबौद्धसिद्धान्तस्यैवोद्धतत्वात् ! किञ्च शब्दादीनां सुखादिरूपत्वे भावनावशेन मद्याङ्गनादिषु कामुकादीनां, करभादीनां च कण्टकादिषु प्रतिनियताः प्रीत्यादयो न प्रादुर्भवेयुः, किन्तु प्रत्येकं चित्रा संवित्प्रसज्येत । अथ यद्यपि त्रयात्मकं वस्तु तथाप्यदृष्टादिसहकारिवशात् किञ्चिदेव कस्यचिद्रूपमाभाति न सर्वं सर्वस्येति चेत्, न, तदाकारशून्यत्वादवस्त्वालम्बनप्रतीतिप्रसक्तेः, तथाहि, त्र्याकारं तद्वस्त्वेकाकारं च संविदा संवेद्यत इति । न च यथा प्रत्यक्षेण

व्यवहारनय प्रभवसाङ्ख्यदर्शनप्रक्रियानिरासप्रसङ्गे सुखादीनांज्ञानरूपत्वप्रतिपादनं शब्दादीनां सत्त्वादित्रयात्मकत्वखण्डनंच ॥

गृहीतेऽपि सर्वात्मना वस्तुन्यभ्यासादिवशात्क्वचिदेव क्षणिकत्वादौ निश्चयोत्पत्तिर्न सर्वत्र, तद्वददृष्टादिबलादेकाकारा संविदुदेष्यतीत्यभिधातुं क्षमं, क्षणिकादिविकल्पस्यापि परमार्थतो वस्तुविषयत्वानभ्युपगमात्, वस्तुनो विकल्पागोचरत्वात्परम्परया वस्तुप्रतिबन्धात्तथाविधतत्प्राप्तिहेतुतया तु तस्य प्रामाण्यमिष्टम्, उक्तं च—"लिङ्गलिङ्गिधियोरेवं, पारम्पर्येण वस्तुनि ॥ प्रतिबन्धात्तदाभास–शून्ययोरप्यबन्धनम् ॥१॥" इति ॥ परैस्तु परमार्थत एव वस्तुविषयत्वमिष्टं प्रीत्यादिप्रतिपत्तीनां, अन्यथा सुखाद्यात्मनां शब्दादीनामनुभवात् सुखाद्यनुभवख्यातिरित्येतदभिधानमसङ्गतं स्यात्, सुखादिसंविदां च सविकल्पकत्वान्न किञ्चिदनिश्चितं रूपमस्तीति सर्वात्मनाऽनुभवख्यातिप्रसक्तिः। यदि च त्रिगुणात्मकत्वं शब्दादीनां ततः प्रीत्यादिप्रतिपत्तिप्रतिनियमाय पुरुषविशेषेऽदृष्टविशेषस्य तन्नियामकत्वं दुःखादिधीप्रतिबन्धकत्वं च कल्पनीयम्, तदा दशाविशेषे प्रीतिधीस्थले परितापधीर्न स्यात्प्राक्तनाक्षयाऽपूर्वादृष्टोत्पत्तिसामग्र्यभावाद्दशाविशेषस्यैवोत्तेजकत्वे तु तस्यैव सर्वत्र हेतुत्वसम्भवात्कालैककारणपरिशेषापत्तिरदृष्टे पुण्यपापरूपे साङ्कर्याज्जातिरूपविशेषासम्भवश्चेति यत्किञ्चिदेतत् ॥ यदपि प्रसादतापदैन्याद्युपलम्भात्सुखाद्यन्वितत्वं सिद्धं शब्दादीनामित्यभिहितं, तदप्यनैकान्तिकं, तथाहि, योगिनां प्रकृतिव्यतिरिक्तं पुरुषं भावयतां तमालम्ब्य प्रकर्षप्राप्तयोगानां प्रसादः प्रादुर्भवति प्रीतिश्च, अप्राप्तयोगानां तु द्रुततरमपश्यतामुद्वेग आविर्भवति, जडमतीनां च प्रकृत्यावरणं, न च परैः पुरुषस्त्रिगुणात्मकोऽभीष्ट इति। न च सङ्कल्पात्प्रीत्यादीनि प्रादुर्भवन्ति न पुरुषादिति वाच्यम्। शब्दादिष्वप्यस्य समानत्वात्, तस्मात् समन्वयादित्यसिद्धो हेतुरनैकान्तिकश्च, प्रधानान्वयस्य क्वचिदप्यसिद्धेर्यदात्मकं कारणं तदात्मकं कार्यमित्यस्यापि दुर्वचत्वात्, व्यक्ताव्यक्तयोः स्वयमेव भेदप्रतिपादनात्,

व्यवहारनयनिरूपणे तत्प्रभावसाङ्ख्यदर्शनप्रक्रियामिथ्यात्वव्यवस्थापने शब्दादीनां त्रिगुणात्मकत्वस्य खण्डनम् ॥

विरुद्धश्च, अनित्यानेकरूपेण कार्येण तादृशस्यैव प्रधानस्य सिद्धेः । अनेनैव न्यायेनान्येऽपि हेतवो निरसनीयाः । न हि प्रधानाख्यस्य हेतोरभावेन परिमाणादीनां विरोधः सिद्धः, तथाहि, यदि तावत्कारणमात्रस्यास्तित्वं साध्यते, तदा सिद्धसाध्यता, न ह्यस्माकं कारणमन्तरेण कार्यस्योत्पादोऽभीष्टो, न च कारणमात्रस्य प्रधानमिति नामकरणे किञ्चिदस्माकं हीयते ॥ अथ प्रेक्षावत्कारणमस्ति यद् व्यक्तं नियतपरिमाणमुत्पादयति शक्तितश्च प्रवर्तत इति, तदयुक्तं, अनैकान्तिकत्वात्, प्रेक्षावत्कारणं विनापि स्वहेतुसामर्थ्यात्प्रतिनियतपरिमाणादियुक्तस्योत्पत्त्याऽविरोधात् । न च प्रधानं प्रेक्षावत्कारणं युक्तम्, अचेतनत्वात्तस्य, शक्तितः प्रवृत्तेरित्यनेन च किमप्यतिरिक्तशक्तिमत्कारणं साध्यते, आहोस्विद् व्यतिरिक्तानेकशक्तिसम्बन्धितदेकत्वादिधर्मकलापाध्यासितं, नाद्यः, सिद्धसाधनात्कारणमात्रस्य ततः सिद्ध्यभ्युपगमात् ॥ द्वितीये हेतोरनैकान्तिकता, तथाभूतेन क्वचिदप्यन्यथासिद्धेः, न च विभिन्नशक्तियोगात्कस्यचित् क्वचित्प्रवृत्तिर्दृष्टा, स्वात्मभूतत्वाच्छक्तीनाम् ॥ कारणकार्यविभागोऽप्यभेदैकान्तेऽयुक्त एव ॥ पर्यायनये निरन्वयविनाशाच्च सर्वभावानां क्वचिदपि लयासिद्धेरविभागाद्वैश्वरूप्यस्येत्ययमपि हेतुरसिद्धः, लयो हि भवन् पूर्वस्वभावापगमे वा भवेदनपगमे वा, आद्ये निरन्वयनाशो, द्वितीये लयानुपपत्तिः, अविकलस्वरूपस्य लयोपगमेऽतिप्रसङ्गादिति दिग् ॥ यदपि " प्रधानविकारबुद्धिव्यतिरिक्तं चैतन्यमात्मनो रूपं ते कल्पयन्ति, "चैतन्यं पुरुषस्य स्वरूपम् " इत्यागमात्, पुरुषश्च शुभाशुभकर्मफलस्य प्रधानोपनीतस्य भोक्ता, न तु कर्ता, सकलजगत्परिणतिरूपायाः प्रकृतेरेव कर्तृत्वोपगमादिति वदन्ति, प्रमाणयन्ति चात्र ' यत् सङ्घातरूपं वस्तु तत्परार्थं, ' यथा शयनासनाभ्यङ्गादि, सङ्घातरूपाश्च चक्षुरादय इति स्वभावहेतुः, यश्चासौ परः स आत्मेति सामर्थ्यात्सिद्धमिति, " अत्र

व्यवहारनयनिरूपणे तत्प्रभवसाङ्ख्यदर्शनप्रक्रियामिथ्यात्वव्यवस्थापने साङ्ख्याभिमतात्मस्वरूपापाकरणम् ॥

'चैतन्यं पुरुषस्य स्वरूपम्' इत्यादिवदता चैतन्यं नित्यैकरूपं प्रतिज्ञातं, तच्चाध्यक्षविरुद्धं, रूपादिसंविदः स्फुटं संवित्त्या भिन्नस्वरूपावगमात्, एकरूपत्वे चात्मनोऽनेकविधार्थस्य भोक्तृत्वाभ्युपगमो विरुध्येत, अभोक्त्रवस्थाऽव्यतिरिक्तत्वाद्भोक्त्रवस्थायाः, न च दिदृक्षायोगादविरोधो, दिदृक्षाशुश्रूषादीनामुत्पादे आत्मनोऽप्युत्पादप्रसङ्गात्,तदव्यतिरेकात्तासां, व्यतिरेके च तस्य ता इति सम्बन्धानुपपत्तेः, उपकारस्य तन्निबन्धनस्याभावात्, भावे वा तत्रापि भेदाभेदविकल्पकृतदोषानुद्धारात् । किञ्च कर्तृत्वभोक्तृत्वयोः सामानाधिकरण्यनियमात्कर्तृत्वाभावे भोक्तृत्वमपि तस्य न युक्तं, न ह्यकृतस्य कर्मणः फलं कश्चिदुपभुङ्क्ते, अकृताभ्यागमप्रसङ्गात्, न च पुरुषस्य कर्माकर्तृत्वेऽपि प्रकृतिरस्याभिलषितमर्थमुपनयतीत्यसौ भोक्ता भवति, यतो नासावप्यचेतना सती शुभाशुभकर्मणां कर्त्री युक्ता, येन कर्मफलं पुरुषस्य सम्पादयेत् । अथ यथा पङ्ग्वन्धयोः परस्परसम्बन्धात्प्रवृत्तिस्तथा महदादिलिङ्गं चेतनपुरुषसम्बन्धाच्चेतनावदिव धर्मादिकार्येष्वध्यवसायं करोतीत्यदोष एवायम्, उक्तं च (सांख्यकारिका) " पुरुषस्य दर्शनार्थं, कैवल्यार्थं तथा प्रधानस्य ॥ पङ्ग्वन्धवदुभयोरपि, संयोगस्तत्कृतः सर्गः ॥२१॥" इति चेत्, न, सर्गस्योभयजत्वे संयोगादिवद् द्विष्ठत्वेन नैमित्तिकद्रवत्वादिस्थानीयत्वेऽपि तं प्रति निमित्तत्वेनात्मनोऽप्रकृतिविकृतित्वभङ्गापत्तेः । किञ्च यदि प्रकृतिरकृतस्यापि कर्मणोऽतात्त्विकसंयोगेनापि फलमभिलषितमुपनयति, तदा सर्वदा सर्वस्य पुंसोऽभिलषितार्थसिद्धिः किमिति न स्यात्? । न च तत्कारणस्य धर्मस्याभावान्न सा स्यादिति वाच्यम्, धर्मधर्मस्यापि प्रकृतिकार्यतया तदुत्पादनद्वारोक्तप्रसङ्गानुद्धारात् ॥ किञ्च यद्यभिलषितं फलं प्रकृतिरुपनयति तदा नानिष्टं प्रयच्छेत्, न हि कश्चिदनिष्टमभिलषति ॥ किञ्च उपनयतु नाम प्रकृतिः फलं, तथापि भोक्तृत्वं पुंसोऽयुक्तम्, अविका-

रित्वात्, न हि सुखदुःखादिबलादपरितापादिरूपविकारमनुपनीयमानस्य भोक्तृत्वमाकाशवत्सङ्गतम् ॥ अथ न विकारापत्त्यात्मनो भोक्तृत्वमिष्टं, किं तर्हि बुद्ध्यध्यवसितस्यार्थस्य प्रतिबिम्बोदयन्यायेन सञ्चेतनात्, तथाहि, बुद्धिदर्पणसङ्क्रान्तमर्थप्रतिबिम्बकं द्वितीयदर्पणकल्पे पुंस्यध्यारोहति, तदेव भोक्तृत्वमस्य, न तु विकारापत्तिः, न च पुरुषे प्रतिबिम्बमात्रसङ्क्रान्तावपि स्वरूपं प्रच्युतिमेति, दर्पणवदविचलितस्वरूपत्वादिति चेत्, ननु प्रतिबिम्बसङ्क्रमासम्भवात्तदधिष्ठानत्वमेव सः, तथा च भोक्तृत्वव्यवहारानुरोधात्प्रातिभासिकभोक्तृत्ववत्कर्तृत्वव्यवहारानुरोधात्प्रातिभासिकं कर्तृत्वमप्यात्मनि किं न स्वीक्रियते। किञ्चैवमात्मनि भ्रान्तभोक्तृत्वादिकल्पनापेक्षयाऽभ्रान्ततत्कल्पनायामेव लाघवाद्यौचित्यं किं न बुध्यसे ?, पङ्ग्वन्धदृष्टान्तोऽप्यत्र तदा शोभेत, यदि वैषम्यं न स्यात्, अस्ति च तत्, तथाहि, अन्धो यद्यपि मार्गं नोपलभते तथापि पङ्गोर्विवक्षामसौ वेत्ति चेतनावत्त्वात्, न चैवं प्रधानं पुरुषविवक्षामधिगच्छतीत्यभ्युपगम्यते, तथा सति भोक्तृत्वमपि तस्य प्रसज्येत, करणज्ञस्य भोक्तृत्वाविरोधात्, न च बुद्धिव्यतिरिक्तं चैतन्यं प्रमाणसिद्धमिति कः परश्चिद्रूप आत्मा। यदपि चिद्रूपाद् बुद्धेर्भेदप्रसाधनाय परैरनुमानमुपन्यस्यते, यद् यदुत्पत्तिमत्त्वनाशित्वादिधर्मयोगि तत्तदचेतनं, यथा रसादयः, तथा च बुद्धिरिति स्वभावहेतुरिति, तत्रापि वक्तव्यं, किमिदं स्वतन्त्रसाधनमाहोस्वित्प्रसङ्गसाधनम्, आद्येऽन्यतरासिद्धो हेतुः, यथाविधमुत्पत्तिमत्त्वमपूर्वोत्पादलक्षणं, नाशित्वं च निरन्वयविनाशात्मकं प्रसिद्धं बौद्धस्य, न तथाविधं साङ्ख्यस्य, तयोराविर्भावतिरोभावरूपत्वेन तेनाङ्गीकारात्, यथा च साङ्ख्यस्य तौ प्रसिद्धौ, न तथा बौद्धस्येति, न च शब्दमात्रसिद्धावनुगतहेतुसिद्धिः, तदिदमुक्तं—" तस्यैव व्यभिचारादौ, शब्देऽप्यव्यभिचारिणि ॥ दोषवत्साधनं ज्ञेयं, वस्तुनो वस्तु-

व्यवहारनयनिरूपणे तत्प्रभवसाङ्ख्यदर्शनप्रक्रियामिथ्यात्वव्यवस्थापने तदभिमतात्मस्वरूपापाकरणम् ॥

सिद्धितः ॥ १ ॥ " इति ॥ द्वितीये साध्यविपर्यये बाधकप्रमाणादर्शनादनैकान्तिकता, न ह्यत्र प्रतिबन्धोऽस्ति चेतनस्योत्पादनाशाभ्यां न भवितव्यमिति । यदपि कल्पितं " वत्सविवृद्धिनिमित्तं, क्षीरस्य यथा प्रवृत्तिरज्ञस्य ॥ पुरुषविमोक्षनिमित्तं, तथा प्रवृत्तिः प्रधानस्य ॥ ५७ ॥ " इति तदपि न सम्यग्, यतः क्षीरमपि न स्वातन्त्र्येण वत्सविवृद्धिं चेतस्याधाय प्रवर्तते, किं तर्हि काचित्केभ्यः स्वहेतुभ्यः प्रतिनियतेभ्यः समुत्पत्तिमासादयति, तच्च लब्धात्मलाभं वत्सविवृद्धिनिमित्ततामुपयातीत्यचेतनमपि प्रवर्तत इति व्यपदिश्यते, न चैवं प्रधानस्य कादाचित्का प्रवृत्तिर्युक्ता, नित्यत्वात्, कादाचित्कसहकारिसमवधानस्याप्यनागन्तुकस्वशक्तिनिमित्तत्वादेकमुक्तौ सर्वमुक्तिप्रसङ्गात्, अन्यथैतद्वैषम्यनिर्वाहकप्रतिनियतात्मव्यापाराभ्युपगमप्रसङ्गात्, तत्तत्काले तत्तत्पुरुषस्य मोक्षसम्पादकतत्तत्सहकारिचक्रसमवधायकानन्तशक्तिमत्प्रधानाभ्युपगमे च तत्तत्क्षणोत्तरकार्ये तत्तत्क्षणस्यैव हेतुत्वावश्यकत्वात्कालैककारणपरिशेषादेव, किमन्तर्गडुना प्रधानेनेति द्वात्रिंशिकाप्रकरणादावभिहितमस्माभिः ॥ यदपि परार्थाश्चक्षुरादय इत्युक्तं, तत्राप्याधेयातिशयो वा परः साध्यत्वेनाभिप्रेतः१, यद्वाऽविकार्यनाधेयातिशयश्च२, आहोस्वित्सामान्येन चक्षुरादीनां पारार्थ्यमात्रं साध्यत्वेनाभिप्रेतम्३ इति विकल्पत्रयम्, नाद्यः, सिद्धसाधनात्, अस्माभिरपि चक्षुरादीनां विज्ञानोपकारित्वेनाभ्युपगमात् ॥ न द्वितीयः, विरुद्धत्वात्, साध्यविपर्ययेण दृष्टान्तहेत्वोर्व्याप्तत्वेन प्रतीतेः ॥ अविकारिण्युपकारस्याशक्यक्रियत्वेन पारार्थ्यायोगाच्च न तृतीयो, यथाकथञ्चित्पारार्थ्यस्य सर्वैरभ्युपगमात् । न च चित्तमपि साध्यधर्मित्वेनोपात्तमिति तदपरस्य परस्य साध्ये प्रवेशान्न सिद्धसाधनम्, अपरस्याविकारिण उपकार्यत्वासम्भवात्, चक्षूरूपालोकमनस्काराणामपरचक्षुरादिकदम्बकोपकारित्वस्यैव न्याय्यत्वाद्विज्ञातस्य चानेक-

व्यवहारनयनिरूपणे तत्प्रभवसाङ्ख्यदर्शनप्रक्रियामिथ्यात्वव्यवस्थापने पुरुषार्थप्रवृत्तेः खण्डनम् ॥

कारणकृतोपकाराध्यासितस्य संहतत्वं कल्पितमविरुद्धमेवेति न किञ्चिद्विचार्यमाणं साङ्ख्यदर्शने चारिमाणमश्नुतीति दिग् ॥

दर्शितेयं यथाशास्त्रं, व्यवहारनयस्य दिग् ॥ साङ्ख्यसिद्धान्तहेतुः श्री-यशोविजयवाचकैः ॥ १ ॥

ऋजु अवक्रं श्रुतं ज्ञानमस्य ऋजुश्रुतः । यद्वा ऋज्ववक्रं वस्तु सूत्रयतीति ऋजुसूत्रः ॥ यद्भाष्यकृत्—"उज्जुं ऋजुं सुयं ना-णमुज्जुसुयमस्स सोयमुज्जुसुओ ॥ सुत्तयइ वा जमुज्जुं, वत्थुं तेणुज्जुसुत्तोत्ति ॥२२२२॥" व्या० ऋजुत्वं चैतदभ्युपगत-वस्तुनोऽवर्तमानपरकीयनिषेधेन प्रत्युत्पन्नत्वं, अतीतमनागतं परकीयं च वस्त्वेतन्मते वक्रं, प्रयोजनाकर्तृत्वेन परधनवत्त-स्यासत्त्वात्, स्वार्थक्रियाकारित्वस्यैव स्वसत्तालक्षणत्वात्, अत एव व्यवहारनयवादिनं प्रत्ययमेवं पर्यनुयुङ्क्ते, यदि व्यवहारानुपयोगादनुपलम्भाच्च सङ्ग्रहनयसम्मतं सामान्यं त्वं नाभ्युपगच्छसि तदा तत एव हेतुद्वयाद् गतमेष्यत्परकीयं च वस्तु माभ्युपगमः, नहि तैः कश्चिद्व्यवहारः क्रियते, उपलब्धिविषयीभूयते वा, वासनाविशेषजनितो व्यवहारस्तु सामान्येऽप्यतिप्रसज्यत इति, तस्माद् यत्स्वकीयं साम्प्रतकालीनं च तद्वस्तु, लिङ्गसङ्ख्यादिभेदेऽपि तटस्तटीतटमित्यादौ, गुरुर्गुरवः, आपो जलं, दाराः कलत्रमित्यादौ च विपरिणतनानापर्यायशब्दवाच्यं निक्षेपचतुष्टयाक्रान्तमप्येकमेव स्वीकुरुते ऋजुसूत्रनयः, न तु शब्दनयवद्भावरूपैकनिक्षेपाक्रान्तलिङ्गसङ्ख्याभिन्नपर्यायशब्दावाच्यं च । तदाह भाष्यकृत्—" तम्हा णिययं संपइ—कालीणं लिङ्गवयणभिन्नंपि ॥ नामादिभेयविहियं, पडिवज्जइ वत्थुमुज्जुसुओत्ति ॥२२२६॥ व्या० अस्मान्नयात्पर-पर्यायासंस्पर्शिन्येकपर्याये वचनं विच्छिन्दद्बौद्धदर्शनं प्रवृत्तम्, तथा च तदनुसारिणः पठन्ति "पलालं न दहत्यग्नि-र्दह्यते न गिरिः क्वचित् ॥ नासंयतः प्रव्रजति. भव्यजीवो न सिद्ध्यति ॥ १ ॥" पलालपर्यायस्या[illegible]

व्यवहारनयनिरूपण समाप्तिः, ऋजुसूत्रनयनिरूपणं, तत्प्रभवबौद्धमतोपदर्शनम् ॥

त्वात्, यः पलालो नासौ दह्यते, यश्च भस्मभावमनुभवति नासौ पलालपर्यायमनुभवति, एवमग्रेऽपि द्रष्टव्यम् । न चैवं व्यवहारबाधः, सर्वत्र नये क्वचिदंशे तद्बाधात् । ननु क्षणक्षयसिद्धावेवं युक्तं, तत्रैव च प्रमाणं न पश्यामः, तथाहि–न तावदध्यक्षं क्षणक्षयितामवगच्छत् प्रतीयते, परैरभ्युपगम्यते वा, यतः परैरन्त्यक्षणदर्शिनामेव प्रत्यक्षतः क्षणिकताया निश्चयतः प्रकल्प्यते भ्रान्तिकरणसद्भावान्न प्राक्, उक्तं च " क्वचित्तदपरिज्ञानं, सदृशापरसम्भवात् ॥ भ्रान्तेरपश्यतो भेदं, मायागोलकभेदवत् ॥ १ ॥ " इति । नाप्यनुमानात्तन्निश्चयः, क्षणिकत्वाभ्युपगमे तदङ्गपक्षधर्मत्वादेरेव निश्चेतुमशक्यत्वात्, सर्वोपसंहारेण व्याप्तिग्रहोपायाभावाच्च, विकल्पस्याप्रमाणत्वेन तद्ग्राहकत्वात्, निर्विकल्पेन च तत्संस्पर्शस्यापि कर्तुमशक्यत्वात्, न चान्यद् बौद्धानां प्रमाणमस्ति, प्रत्यभिज्ञाप्रत्यक्षाच्च भावानां स्थैर्यप्रतिपत्तिः क्षणिकत्वबाधिका, न च प्रत्यभिज्ञानमप्रमाणं, "तत्रापूर्वार्थविज्ञानं, निश्चितं बाधवर्जितम् ॥ अदुष्टकारणारब्धं, प्रमाणं लोकसम्मतम् ॥१॥ " इति प्रमाणलक्षणयोगात्, न च स्मृतिपूर्वकत्वात्स एवायमिति प्रत्यभिज्ञानुसन्धानस्य प्रत्यक्षत्वमयुक्तमिति वाच्यम्, सत्सम्प्रयोगजत्वेन स्मरणपश्चाद्भाविनोऽप्यक्षजप्रत्ययस्य लोकप्रत्यक्षत्वेन प्रसिद्धत्वात्, उक्तं च ॥ "न हि स्मरणतो यत्प्राक्, तत्प्रत्यक्षमितीदृशम् ॥ वचनं राजकीयं वा, लौकिकं वापि विद्यते ॥१॥ न चापि स्मरणात्पश्चा–दिन्द्रियस्य प्रवर्तनम् ॥ वार्यते केनचिन्नापि, तत्तदानीं प्रदुष्यति ॥ २ ॥ तेनेन्द्रियार्थसम्बन्धात्, प्रागूर्ध्वं वापि यत्स्मृतेः ॥ विज्ञानं जायते, सर्वं प्रत्यक्षमिति गम्यताम् ॥ ३ ॥" इति ॥ अनेकदेशकालावस्थासमन्वितं सामान्यं द्रव्यादिकं च वस्त्वस्याः प्रमेयमित्यपूर्वप्रमेयत्वभावः ॥ उक्तं च " इदानीन्तनमस्तित्वं, न हि पूर्वधिया गतम्॥" इति । न च पूर्वापरकालसम्बन्धिद्रव्यस्यैकत्वात्कालस्य चातीन्द्रि-

ऋजुसूत्रनयनिरूपणे तत्प्रभवबौद्धमतोपदर्शने स्थैर्यवादिनः-प्रश्नः, तत्र प्रत्यभिज्ञाप्रामाण्यव्यवस्थापनम् ॥

यत्वान्न प्रमेयातिरेक इति वाच्यम् । तथापि प्रत्यभिज्ञातार्थे सन्देहाभावेन तत्प्रामाण्यसिद्धेः, विषयातिरेकस्येव सन्देहापाकरणस्याऽपि प्रामाण्यनिबन्धत्वात्, न च सविकल्पमेव प्रत्यभिज्ञानं, अविकल्पस्यापि तस्य दर्शनात् प्रथमप्रत्ययाभिन्नविषयाकाराऽत्रुट्यद्रूपार्थग्राह्यविकल्पस्यैकत्वप्रत्यभिज्ञानत्वात्, यथा ह्यर्थसंसर्गानुसारिणोऽनुभवादुपजातान्नीलविकल्पान्नीलानुभवः सौगतैर्व्यवस्थाप्यते तथा पूर्वदृष्टं पश्यामीत्युल्लेखवतोऽनुसन्धानविकल्पादत्रुट्यद्रूपशब्दाद्यनुभवः किं न व्यवस्थाप्येत, अक्षव्यापारानन्तरत्वस्योभयत्राविशेषात्पूर्वदृष्टताज्ञानस्य पूर्वदर्शनं विनाऽसम्भवात्तद्विना पौर्वापर्येऽक्षजप्रत्ययप्रवृत्तेरभावान्न प्रत्यभिज्ञाप्रामाण्यमिति चेत्, न, पूर्वदृष्टमित्युल्लेखमन्तरेणापि पौर्वापर्ये दृगवतारात्, अन्यथाऽत्रुट्यद्रूपनिश्चयानुपपत्तेः, ततो निर्विकल्पकस्य सविकल्पकस्य वा स्थैर्यग्राहिणः प्रत्यभिज्ञानस्य प्रमाणाबाधितत्वात् क्षणक्षयस्य नाभ्युपगमार्हत्वम् ॥ किञ्च विनाशस्य सहेतुकत्वात्तद्धेत्वभावादेव क्षयिणामपि भावानां कियत्कालं स्थैर्यमनाबाधम् । न च विनाशस्य सहेतुकत्वमसिद्धं, दण्डेन घटो भग्नः, अग्निना काष्ठं दग्धमित्याद्यनुभवस्य सार्वजनीनत्वात् । न चावस्तुत्वाद्विनाशस्य न कार्यत्वं, यथा हि नोपलम्भव्यावृत्तिरेवानुपलम्भः परेषां, किं तु विवक्षितोपलम्भादन्यः पर्युदासवृत्त्योपलम्भ एव, तथा नाशोऽपि भावान्तरविनिर्मुक्तो भाव एवेति तस्य कार्यत्वाविरोधात् ॥ उक्तं च--" भावान्तरविनिर्मुक्तो, भावोऽत्रानुपलम्भवत् ॥ अभावः सम्मतस्तस्य, हेतोः किं न समुद्भवः ? ॥ १ ॥ " इति ॥ अत्रोच्यते--यदुक्तं क्षणक्षयसिद्धौ नाध्यक्षं प्रवर्तत इति, तदयुक्तम्, पूर्वापरक्षणसमन्वयस्याध्यक्षाविषयत्वे मध्यमक्षणसत्त्वमेव गृह्णता प्रत्यक्षेण कालान्तरस्थितिविपर्यासलक्षणभेदपरिच्छेदात् । न च कालान्तरसमन्वयमधिगन्तुमक्षममध्यक्षं न तदुद्भासयतीति सन्देह एव तत्र युक्तो नासत्त्वमिति वाच्यम् । कालान्तरस्थायि-

ऋजुसूत्रनयनिरूपणे तत्प्रभवबौद्धमतोपदर्शने तत्खण्डनात्मकपरप्रश्नस्य प्रतिविधानम् ॥

त्वस्य कदाचिदप्यनवगतौ सन्देहाभावात्, सदृशापरापरक्षणोत्पत्तिदोषादन्त्यक्षणादर्शिनां क्षणिकत्वनिश्चयो विकल्पात्मको नेष्यते, निर्विकल्पकं तु क्षणिकतायां सदैव प्रमाणभावमाबिभर्ति, क्षणिकत्वप्रकारकाध्यवसायजनकतया समनन्तरप्रत्ययस्येव तत्प्रयोजकतया पूर्वपूर्वतरक्षणज्ञानानामपि प्रामाण्याव्याघातात्, स्वविषयविषयकत्वस्योभयत्राविशेषात्, व्यवहारसाधनाय विप्रतिपत्तिनिरासाय च तत्रानुमानमाद्रियत एव। क्षणिकत्वपक्षेऽप्यनुमानसामग्रीसम्पत्तौ पक्षधर्मत्वादिना निश्चितस्य हेतोः स्वसाध्यप्रतिबिम्बजननक्षमत्वात्सविकल्पकत्वेऽपि तस्य परम्परया वस्तुप्रतिबन्धेन प्रामाण्यात्। अनुमानं च क्षणिकतायां 'यत्सत्तत्क्षणिकमेव' 'सन्ति च द्वादशायतनानीति'। ननु क्षणिकत्वस्य प्रत्यक्षेणानिश्चयात्कथं हेतुसाध्ययोस्तादात्म्याविनाभावग्रहः, न च कृतका विनाशं प्रत्यनपेक्षत्वात्तद्भावनियता यतो भावा इत्यनुमानसिद्धं तत्तादात्म्यम्, निर्हेतुकत्वेऽपि नाशस्य यदैव घटादयो नाशमनुभवन्तः प्रतीयन्ते तदैव तेषामसौ निर्हेतुकः स्यान्नान्यदेति कथं क्षणविशरारुता कृतकत्वेऽपि भावानाम्, एकक्षणस्थायित्वस्वभावेनोत्पत्तेर्भावानां प्रागपि विनाशसङ्गतिरिति चेत्, न, अनेकक्षणस्थायित्वस्वभावेन स्वहेतुभ्य उत्पत्तेरप्युक्तौ बाधकाभावात्, न च यदि क्वचित्कदाचिद्विनाशो भवेत्तदा तत्कालद्रव्यापेक्षत्वादन्यानपेक्षत्वहानिः, विनाशहेत्वनपेक्षत्वेनान्यानपेक्षताया अहानेः, अन्यथा द्वितीयेऽपि क्षणे विनाशो न स्यात्तत्कालाद्यपेक्षत्वात्, न च क्रमयौगपद्याभ्यां सामर्थ्यलक्षणं सत्त्वं व्याप्तं क्रमाक्रमनिवृत्तौ च नित्यात्सत्त्वं निवर्तमानं क्षणिकेष्वेवावतिष्ठत इत्यपि वक्तुं युक्तम्, क्षणिकत्वे क्रमाक्रमप्रतिपत्तेरेवासम्भवात्, पूर्वोत्तरकालभाव्यन्यतरप्रतिपत्तृभ्यां तदितरासंस्पर्शात्, यो हि पूर्ववस्तुप्रतीत्यनन्तरमपरस्य ग्राहकः स क्रमग्राही भवेत्, तथा चाक्षणिकत्वं बलादापतति, बौद्धस्य च काल एव ना-

ऋजुसूत्रनयनिरूपणे तत्प्रभवबौद्धमतोपदर्शने क्षणक्षयमसहमानस्य परस्य प्रश्नः॥

स्तीति कथं तस्य क्रमग्रहः, भिन्नकालवस्तुग्रहाभावे चानेकवस्तुरूप एव क्रमः, स च नित्यस्यापि क्रमिककार्यकर्तृत्वे न विरुध्यते, कालाभावेन तत्सङ्करदोषाभावात्, अत्र केचित्प्रतिविदधति, प्रत्यक्षसिद्धे एव क्रमयौगपद्ये, तथाहि, सहभावो भावानां यौगपद्यं, क्रमस्तु पूर्वापरभावः, स च क्रमिणामभिन्न एकप्रतिभासश्च तत्प्रतिभासः ।। अथैकप्रतिभासानन्तरमपरस्य प्रतिभासः क्रमप्रतिभासो न त्वेकस्यैवातिप्रसङ्गात्, एवमेतत्, किन्तु यदैकप्रतिभासो जातोऽपरश्च जायते तदा प्राक्तने यौगपद्यप्रतिभासप्रसक्तिरानन्तर्याभावात्, तस्मात् क्रमिणोः पूर्वापरज्ञानाभ्यां ग्रहणे तदभिन्नः क्रमोऽपि गृहीत एव, केवलं पूर्वानुभूतपदार्थाहितसंस्कारप्रबोधादिदमस्मादनन्तरमुत्पन्नमित्यादिविकल्पप्रादुर्भावे क्रमो गृहीत इति व्यवस्थाप्यते, क्रमिणोर्ग्रहेऽपि कथञ्चिदानुपूर्व्या विकल्पानुपपत्तौ क्रमग्रहव्यवस्थापनायोगात्, अत एव क्रमिणामेकग्रहेऽपि न क्रमग्रहो व्यवस्थाप्यते, अपि च कथं कालाभ्युपगमवादिनोऽपि क्रमग्रहः, सर्वकार्याणामेककालत्वात्, न च भिन्नभिन्नकालोपाधिक्रमात्कार्यक्रमो युक्तः, कालस्याभिन्नत्वेनाभ्युपगमात्तद्योगात्तदुपाधीनां क्रमानुपपत्तेः, कालोपाध्यन्तरक्रमापेक्षतत्क्रमाभ्युपगमे चानवस्थानात्, स्वरूपेण तत्क्रमाभ्युपगमे च बहूनामसहायानां कार्याणामेव स्वरूपतः क्रमः किं न भवेत्? अस्माकं तु लोकसिद्धकालतत्क्रमाभ्युपगमान्न दोषः, तस्माद् घटादिः पदार्थोऽर्थक्रियाकारी क्रमाक्रमाभ्यां प्रत्यक्षसिद्धः, तस्यैककार्यकरणं प्रति यत्सामर्थ्यं तत्तदैव, न पूर्वं न पश्चात्, तत्कार्याभावात्, सामर्थ्यं तु ततोऽव्यतिरिक्तमेव, उत्तरकार्योत्पत्तावप्येवं द्रष्टव्यमिति सामर्थ्यभेदेन पदार्थभेदात्कथं न क्षणिकत्वं, यथा च दृष्टेषु घटादिषु क्षणिकत्वव्याप्तमर्थक्रियाकारित्वरूपं सत्त्वं सिद्धं, तथाऽदृष्टेष्वपि सिद्ध्यत्यविशेषादिति सर्वोपसंहारेण व्याप्तिमवगत्य यत्र यत्र सत्त्वं निश्ची-

ऋजुसूत्रनयनिरूपणे तत्प्रभवबौद्धमतोपदर्शने परप्रश्नप्रतिविधानेन क्षणिकत्वानुमानदृढीकरणम् ॥

यते तत्र तत्र क्षणिकत्वानुमानं प्रवर्तयन्ति विद्वांसः, हेतुसाध्ययोस्तादात्म्यप्रतिबन्धनिश्चयादिति स्थितम् ॥ न च सत्त्वे सत्यप्यक्षणिकत्वस्यैव साम्राज्यात् ( ज्यम् ) ॥ अथ प्रथमक्षणे जन्मैव न स्थितिः, द्वितीये स्थितिरेव न जन्म, एवमपि क्षणिकत्वं प्रसक्तं जन्मजन्मिनोः स्थितिस्थितिमतोश्चाभेदादिति । परे तु सत्त्वलक्षणस्य हेतोस्तादात्म्यरूपः प्रतिबन्धो विपर्यये बाधकप्रमाणनिबन्धन इत्येवं वर्णयन्ति । यत्र क्रमयौगपद्यायोगो न तत्रार्थक्रियासामर्थ्यलक्षणं सत्त्वमित्यक्षणिकाद् व्यावर्तमानस्य क्षणिकत्वस्य क्षणिकेष्वेवावस्थानात् । अथ कथमर्थक्रियासामर्थ्यनिवृत्तिः क्रमयौगपद्यनिवृत्तिनिमित्तेति चेत्, तयोस्तद्व्यापकत्वात् । अथात्राऽपि यदि व्याप्यव्यापकभावो बाधकान्तरनिबन्धनस्तदा तत्रापि बाधकान्तरान्वेषणायामनवस्थेति चेत्, न, क्रमयौगपद्याभ्यां सामर्थ्यस्य व्याप्तेः प्रकारान्तरासम्भवतो निश्चयेनानवस्थाभावात्, प्रकारान्तरासम्भवश्च प्रत्यक्षेणैव निश्चीयते, क्रमेण यौगपद्येन वा घटादीनां स्वकार्यमुत्पादयतामध्यक्षेणावलम्बने इतररूपविवेकभानात्तदनन्तरं क्रमभावि तत्कार्यं नाक्रम इति विकल्पद्वयप्रवृत्तः, नीलाद्यनुभवोत्तरमनीलादिव्यवच्छेदविकल्पोदयात्तस्याऽनीलादिव्यवच्छेदावगाहित्ववत् क्रमप्रतीतावक्रमव्यवच्छेदविकल्पोदयात्तस्याक्रमव्यवच्छेदावगाहित्वस्य न्यायप्राप्तत्वात् ॥ अथ कथं क्रमयौगपद्यायोगोऽक्षणिकेषु भावेषु, उच्यते, न तावदक्षणिकाः क्रमेणार्थक्रियाकारिणः, कारकस्वभावस्य प्रागेव सन्निधानात्प्रथमक्षण एव द्वितीयादिक्षणभाविसकलकार्यकरणप्रसक्तेः ॥ न च सहकारिक्रमात्कार्यक्रम इति वक्तव्यं, यतः सहकारिणः किं विशेषाऽऽधायकत्वेन तथा व्यपदिश्यन्ते, आहोस्विदेकार्थप्रतिनियताश्चक्षुरादय इवाक्षेपकारिणः स्वविज्ञानेन ? । नाद्यः, तज्जनितविशेषस्यार्थान्तरत्वात्तेनाकारकस्वभावाप्रच्यावनात्, नापि द्वितीयः, नित्यानामेककार्यप्रतिनियमलक्षणसहकारित्वसम्भवेपि प्राक्प-

ऋजुसूत्रनय प्रभवबौद्धमतोपदर्शने परप्रश्नस्य प्रतिविधाने मतान्तरोपदर्शनं, स्थिरे क्रमयौगपद्यायोगव्यवस्थापनम् ॥

श्चात्पृथग्भावसम्भवात् सहैव कुर्वन्तीति सहकारित्वनियमस्यानुक्तिसम्भवात्, साहित्येऽपि प्राक्तनाकारकस्वभावानिवृत्तेः, प्रागेव कारकस्वभावत्वे च न कदाचित्तत्क्रियाविरतिरिति कुत एकार्थक्रियाप्रतिनियमस्वरूपमक्षणिकानां सहकारित्वम्? ॥ कार्यस्य सामग्रीजन्यतया तस्याश्चापरापरप्रत्यययोगरूपतया प्रत्येकं तत्क्रियास्वभावत्वेऽप्यनुत्पत्तिरिति चेत्, व्याहतमेतत्, समुदितस्य कार्यजननस्वभावत्वे केवलस्य तज्जननस्वभावत्वासिद्धेः ॥ किञ्च प्रत्येकातिरिक्तसमुदाये प्रमाणाभावात् प्रत्येकमनुत्पादकत्वे समुदायस्याप्यनुत्पादकत्वम् ॥ अथ प्रत्येकं कारणानां स्वरूपयोग्यतैव, फलोपहितकारणतायां त्वेकैकस्य कारणस्येतरकारणसाहित्यमप्यवच्छेदकमिति न दोष इति चेत्, इतरकारणसाहित्यमपि यद्येकैककारणस्य कार्योपधानस्वभावानुप्रविष्टं, तदानुपनमन्त्यपि तानि गलेपादिकया गृहीत्वा प्रतिक्षणं कार्यं कुर्यात् ॥ अथ कारणे हेत्वन्तरोपनिपातेन कार्यजननस्वभाव उत्पद्यत इति केवलस्य न जनकत्वं, न च सहकारिसहितासहितावस्थयोरस्य स्वभावभेदः, प्रत्ययान्तरापेक्षस्वकार्यजननस्वभावतायाः सर्वदा भावादिति चेत्, न, प्रत्ययान्तरसत्त्वेऽपि ह्यस्य स्वरूपेणैव कार्यकारिता, तच्च प्रागप्यस्ति, प्रत्ययान्तरापेक्षायाश्च ततो लभ्यस्यात्मातिशयस्याभावादसम्भव इति केवल एव कार्यं किं न कुर्यात्, अकुर्वंश्च केवलः सहितावस्थायां च कुर्वन् कथं न भिन्नस्वभावो भवेत्, तन्नाऽक्षणिकस्य क्रमेणार्थक्रिया सम्भवतीति न क्रमयोगः। यौगपद्यमपि तस्यासङ्गतं, द्वितीयादिक्षणेषु तावत एव कार्यकलापस्योदयप्रसङ्गाद्धेतोस्तज्जननस्वभावस्याप्रच्युतेः, सन्निहितसकलकारणानां चानुदयोऽयुक्तः, प्रथमक्षणेऽपि तद्भावापत्तेरिति क्रमयौगपद्यायोगादक्षणिकानामर्थक्रियासामर्थ्यविरहलक्षणमसत्त्वमायातमिति सत्त्वलक्षणः स्वभावहेतुः क्षणिकतायां बाधकप्रमाणबलान्निश्चिततादात्म्यः कथं न गमकः। अथाक्ष-

ऋजुसूत्रनयनिरूपणे तदुत्थसौगतमतोपदर्शनेऽक्षणिकस्यार्थक्रियाकारित्वखण्डनम् ॥

णिकानामिव क्षणक्षयिणामप्यर्थक्रियासामर्थ्यलक्षणं सत्त्वमनुपपन्नमेव, क्रमायोगस्य तत्राऽपि तदवस्थत्वात्, यौगपद्यस्य च प्रत्यक्षेणैव बाधात्, न च विशिष्टहेतुक्रमादेव कार्यक्रमस्तेष्वेकत्वाभिमानश्च सादृश्यादिति वाच्यम्, प्रतिक्षणोदयं बिभ्राणेषु हेतुषु परस्परतो विशेषाधानस्यैव दुर्वचत्वात्, प्रत्ययजनितविशेषस्य स्वोत्पत्तेः प्राक् पश्चाद्वाऽसम्भवात्, प्राक्तेषामेवासत्त्वात्, पश्चादप्युपहितानुपहितक्षणाविवेकेन तत्स्वरूपस्य तस्याकार्यत्वात्, अतिरिक्तस्य च सम्बन्धाभावादिति न सहकारिभिरुपकारः, ततो निर्विशेषाणां क्रमयौगपद्याभ्यामर्थक्रियाकारित्वलक्षणं न सत्त्वम् ॥ तदुक्तम्––" कः शोभेतवदन्नेवं, यदि न स्यादह्रीकता ॥ अज्ञता वा यतः सर्वं, क्षणिकेष्वपि तत्समम् ॥ १ ॥ विशेषहेतवस्तेषां, प्रत्यया न कथञ्चन ॥ नित्यानामिव युज्यन्ते, क्षणानामविवेकतः ॥ २ ॥ क्रमेण युगपच्चैव, यतस्तेऽर्थक्रियाकृतः ॥ न भवन्ति ततस्तेषां, व्यर्थः क्षणिकताश्रमः ॥ ३ ॥ " इति, तदयं सत्ताहेतुरसाधारणानैकान्तिक इति चेत्, असदेतत्, सहकारिजनितस्य कारणगतविशेषस्यासम्भवेन निर्विशेषत्वेऽपि ' सामग्र्याः कार्यजनकत्वमिति ' प्रवादात् समग्राणां प्रत्येकमितरेतरसहकारिणां स्वस्वविशिष्टक्षणान्तरारम्भकत्वात्तदनन्तरमपि तथैव तदारम्भसम्भवात्सविशेषत्वाभ्युपगमे बाधकाभावात् । असमर्थात् समर्थक्षणोत्पत्तौ सहकारिसमवधानप्रयोज्यो विशेषो न स्यात्तथा च प्रागपि स्यादिति चेत्, न, असमर्थक्षणे समर्थक्षणकुर्वद्रूपत्वाख्यो यो विशेषस्तत्र सहकारिसमवधाननियतताया एव तत्प्रयोज्याया अभ्युपगमे दोषाभावात् । युक्तं चैतत्, कारणस्यैव कार्योत्पत्तिव्याप्यत्वे लाघवात्, त्वया तु स्वेतरकारणविशिष्टकारणत्वेन कार्योत्पत्तिव्याप्यत्वं स्वीकर्तव्यमिति गौरवम् । तस्मात्क्षणिकानामेवार्थक्रियासामर्थ्यलक्षणं सत्त्वं सम्भवतीति नासाधारणानैकान्तिकता । अथ क्षणिकक्षित्याद्यनेककारणजनितं कार्यमेकं

ऋजुसूत्रनयनिरूपणे तदुत्थसौगतमतोपदर्शने क्षणिकस्यार्थक्रियाकारित्वे पराक्षेपस्य प्रतिविधानम् ॥

न स्यात्, अनेककारणजनितस्यैकत्वासिद्धेरिति चेत्, एकमेकं करोतीति कुतोऽवगतं, तद्भावे तद्भावादिति चेत्, समानमेतदनेकत्र, तथा ह्येकमङ्कुरादिकार्यमङ्गीकृत्य विशिष्टक्षणान्तरोत्पादनलक्षणेनातिशयाधानेन क्षित्यादीनां प्रवृत्तिः, तत्र स्वहेतुपरिणामोपात्तधर्माणस्तदवस्थां प्राप्तास्तस्यैवैकस्य जनने समर्था नान्यस्येति नापरं तज्जनयन्ति, न वा नैकोद्भूतं तदनेकमासज्यते, यतो न कारणमेव कार्यं भवतीत्येतदस्माभिरभ्युपेयते, येनानेकपरिणतेरनेकरूपत्वात्कार्यस्याप्यनेकत्वं प्राप्यते, किन्तु केषुचित् सत्स्वपूर्वमेव किञ्चित्प्रादुर्भवति, तद्भाव एव भावात्तत्कार्यमुच्यते इति नानेकताप्रसङ्गः। यदि तु तेषु सर्वेषु अभिन्नं रूपं किञ्चिज्जनकं स्यात्तदा तदेकतरस्थितावपि कार्यजननं स्यात्, न स्याद्वाऽन्यसन्निधावपि। सामग्रीमाश्रित्य कारणभेदात्कार्यभेदः स्यादिति चेत्, अयमस्माकमप्यभ्युपगम एव। स्थिरपक्षेऽपि हि सामग्रीत्वमेकं दुर्वचं, इतरकारणविशिष्टापरकारणस्य सामग्रीत्वेऽननुगमाद्वैशिष्ट्यस्यापि तत्सम्बन्धरूपस्याननुगतत्वादिति कल्पितैकत्वानामेव सकलकारणानां सामग्रीत्वं वाच्यं, तद्वदस्थिरपक्षेऽप्येकक्षणोत्पन्नानां कुर्वद्रूपत्वजात्यैकीकृत्य कल्पितानां कारणानां यदि सामग्रीत्वं कल्प्यते तदा को वा सामग्रीभेद इति। एतेन 'क्षणिकानामेव हेतुत्वे तत्क्षणोत्पन्नानामुदासीनानामपि हेतुत्वं स्याद्' इति निरस्तम्, अन्वयव्यतिरेकाभ्यां सादृश्यानुसारेणैव कार्यकारणभावव्यवहारात्तन्निश्चयानुसारेणैव तच्छक्त्यनुभवकल्पनात् प्रतिनियतहेतुहेतुमद्भावस्यैव प्रामाणिकत्वात्। अथासतोऽजनकत्वान्न क्षणविशरारोः कार्यप्रसव इति चेत्, न, अनभ्युपगमात्कार्यकाले सत्त्वस्य कारणतायामप्रयोजकत्वात्, कुर्वद्रूपत्वस्यैव तथात्वात्, तथाप्यविनष्टाद् द्वितीयक्षणव्यापारसमावेशवर्तिनः कार्यप्रसवाभ्युपगमे क्षणभङ्गभङ्गप्रसङ्ग इति चेत्, न, द्वितीयक्षणप्रतीक्षाव्यतिरेकेणापि स्वमहिम्ना कार्यकरणप्रवृत्त्यभ्युपगमात्, अन्यथा द्वितीयक्षणभाविव्यापारज-

ऋजुसूत्रनयनिरूपणे तदुत्थसौगतमतोपदर्शने क्षणिकस्यार्थक्रियाकारित्वे पराक्षेपस्य प्रतिविधानम्॥

ननेऽप्यपरव्यापारसमावेशव्यतिरेकेणाप्रवृत्तेः, तत्रापि चापरव्यापारसमावेशकल्पनायामनवस्थानात्, अपरव्यापारनिरपेक्षाणामेवैकव्यापारनिर्वर्तकत्वाभ्युपगमे किमपराद्धं कार्येण, येनाद्यव्यापारं विनैव न तज्जन्यत इति, न च व्यापारमन्तरेणार्थक्रिया नोपपत्तिमती, व्यापारेणैव व्यभिचारादिति भावनीयम् ॥ अथानष्टात्कारणादुपजायमाने कार्ये कार्यकारणयोः सहभावप्रसक्तिः, नष्टाच्च कारणात्कार्योत्पत्त्यभ्युपगमे तृतीयक्षणे तत्प्रसङ्गः, तथा हि प्रथमे क्षणे कारणसत्ता, द्वितीये तद्विनाशः, तृतीये च कार्योत्पत्तिरिति चेत्, न, यथैव कारणविनाशस्तत्सत्तापूर्वको न नष्टाद्भवति तथा तत्समानकालं कार्यमप्यनष्टात्कारणाद्भविष्यतीति दोषाभावात्। एवं विनाशोऽपि हेतुमान् स्यादिति चेत्, न, नीरूपत्वेन तत्र हेतुव्यापाराभावात्तदुपन्यासस्यात्र व्यवधायककालासम्भवप्रदर्शनार्थत्वात्, ततो द्वितीयक्षणे कारणं नष्टं कार्यं चोपजायत इति कुतस्तयोः सहभावप्रसक्तिः । तदुक्तम्—"अनष्टाज्जायते कार्यं, हेतुश्चान्योऽपि तत्क्षणम् ॥ क्षणिकत्वात्स्वभावेन, तेन नास्ति सहस्थितिः ॥ १ ॥" इति ॥ अत्र चाविद्धकर्णोद्योतकरादिभिर्यदुक्त " यदि तुलान्तकयोर्नमनोन्नमनवत्कार्योत्पत्तिकाल एव कारणविनाशस्तदा कार्यकारणभावो न भवेत्, यतः कारणस्य विनाशः कारणोत्पाद एव 'उत्पाद एव विनाश' इति वचनात्, एवं च कारणेन सह कार्यमुत्पन्नमिति प्राप्तं, यदि च स एव नाशः प्रथमेऽपि क्षणे न सत्ता भावस्य स्यात्, तदैव विनाशात्, भावस्यैव विनाशत्वे सर्वदा भावस्य सत्त्वमसत्त्वं वा स्यात्, अन्यथा क्षणोत्तरं तन्नाशाभ्युपमस्याप्रामाणिकत्वप्राप्तेः । अथ कारणोत्पादात्कारणविनाशो भिन्नस्तदा कृतकत्वस्वभावत्वमनित्यत्वस्य न भवेत्, उत्पादनाशयोस्तादात्म्यप्रतिबन्ध एव तस्य वक्तुं शक्यत्वात्, व्यतिरिक्ते च नाशे समुत्पन्ने न भावस्य निवृत्तिरिति कथं क्षणिकत्वमिति" तन्निरस्तम् । यतो द्विविधो विनाशः सांव्यवहार्यस्तात्त्वि-

ऋजुसूत्रनयनिरूपणे तदुत्थसौगतमतोपदर्शने क्षणिकस्यार्थक्रियाकारित्वे अविद्धकर्णाद्याक्षेपस्य प्रतिविधानम् ॥

कश्च, आद्यो भावनिवृत्तिरूप एव, द्वितीयश्च भावः, तत्र कारणनिवृत्तिरूपोऽभावो लोकप्रतीत एव नायं भावस्वभाव इष्यते, नापि कारणोत्पादादभिन्नो भिन्नो वा, नीरूपत्वात्, भेदाभेदप्रतिषेध एव केवलमस्य क्रियते, तदुक्तम्—" भावे ह्येव विकल्पः स्या–द्विधेर्वस्त्वनुरोधतः ॥ " इति । तेन 'व्यतिरिक्ते नाशे जाते क्षणरूपस्य भावस्यानिवृत्तिः,' इत्यपास्तं, यतश्च द्वितीयक्षणोत्पत्तिकाल एव प्रथमक्षणनिवृत्तिस्तेनैकक्षणस्थायी भावो विनाशशब्देनोच्यते, अयं च भावरूपत्वात्तात्त्विकः साधनस्वभाव एव विनाशः कार्योत्पत्तिकाले च निवर्तत इति कार्यभिन्नकालभावी ॥ न च सर्वकालमस्य सद्भावः, भावस्यासत्त्वात् । यद्वा 'विनाशोऽस्य स विनाशी' इति व्युत्पत्तेरविनाशिव्यावृत्तो भाव एव नाश उच्यत इति । यदपि च प्रत्यभिज्ञायाः क्षणिकत्वानुमानबाधकत्वमुक्तं, तदप्यसत्, अनिश्चितप्रामाण्याया अस्या बाधकत्वानुपपत्तेः, न च क्षणिकत्वानुमानप्रामाण्येऽस्या अप्रामाण्यनिश्चयोऽस्या अप्रामाण्ये च क्षणिकत्वानुमानप्रामाण्यमित्यन्योन्याश्रयदोषोपनिपातः, यतो न क्षणिकत्वानुमानप्रामाण्यं प्रत्यभिज्ञाऽप्रामाण्याधीनं, अपि तु विपर्ययबाधकप्रमाणाऽऽहितस्वसाध्यप्रतिबन्धनिश्चयाधीनमिति । किञ्चायमित्युल्लेखवद्वर्तमानकालकार्यजनकं स्वभावं वस्तुनः परामृशति, स एवेत्युल्लेखवच्च प्राक्तनं तदजनकं स्वभावमिति विरुद्धोभयस्वभावावगाहित्वात्कथं प्रत्यभिज्ञानं प्रमाणम्, अपि च क्षणविशरारुषु भावेषु सदृशापरापरोत्पत्त्यादिविप्रलम्भहेतोरुपजायमानं तद्दुष्टकारणारब्धत्वादेवाप्रमाणम् । अपि च लूनपुनरुदितकेशादिष्वेकत्वाभावेऽप्यस्य प्रवर्तमानस्य दर्शनात्कुतः स्वविषयव्यवस्थापकत्वम् । किञ्च सत्सम्प्रयोगजत्वमपि प्रत्यभिज्ञानस्यासिद्धं, बहिरवस्थिततदेतत्कालसंस्पर्श्यकार्थेन्द्रियसम्प्रयोगासिद्धेः । यदप्येतत् प्रत्यभिज्ञानं देशादिभिन्नसामान्यालम्बनमित्युक्तं, तदप्यसङ्गतम्, सामान्यादेरपि

ऋजुसूत्रनयनिरूपणे तदुत्थसौगतमतोपदर्शने क्षणिकत्वबाधकतया परोक्तस्य प्रत्यभिज्ञानप्रमाणस्य खण्डनम् ॥

ऋजुसूत्रनयनिरूपणे तदुत्थसौगतमतोपदर्शने क्षणिकत्वबाधकतया परोक्तस्य प्रत्यभिज्ञानप्रमाणस्य खण्डनम् ॥

॥ ४५ ॥

भिन्नस्य तद्विषयस्याभावात् । भावेऽपि भूयः प्रमाणगोचरीकृते तत्र प्रवर्तमानस्य प्रत्यभिज्ञानस्यानधिगतार्थाधिगन्तृत्वायोगात् । भिन्नाभिन्नालम्बनत्वेऽपि च प्रत्यभिज्ञानस्य न प्रामाण्यं, अपूर्वप्रमेयाभावात्, न हि देशादयस्तत्र प्रत्यभिज्ञायन्ते, प्रागदर्शनात्तेषां, पूर्वोपलब्धे तु सामान्यादौ न प्रमेयाधिक्यम् । न च पूर्वप्रसिद्धमेवाग्न्यादिसामान्यं देशादिविशिष्टतयाधिगच्छतोऽनुमानस्य यथा न प्रामाण्यव्याहतिस्तथा प्रागुपलब्धमेव सामान्यादि देशादिविशिष्टतया प्रतिपद्यमानस्यापूर्वप्रमेयसङ्गतेर्न प्रामाण्यक्षतिरिति वक्तव्यम्, द्वितीयप्रत्यक्षत एव तत्सिद्धेः प्रत्यभिज्ञानस्यापूर्वप्रमेयायोगात्, न हि सोऽयमित्युल्लेखद्वयाक्रान्तं प्रत्यभिज्ञानविषयद्वयं प्रत्यक्षद्वयगोचरादतिरिक्तमिति । न च यथा वस्तुस्वरूपग्राहिणाऽध्यक्षेण तदव्यतिरिक्ते क्षणक्षयेऽधिगतेऽपि तन्निश्चिन्वानाऽनुमितिः समारोपव्यवच्छेदकतयैव प्रमाणं, तथा प्रत्यभिज्ञा दर्शनद्वयगृहीतेऽप्यर्थे समारोपव्यवच्छेदकत्वादेव प्रमाणमिति वाच्यम्, दर्शनद्वयेनैव समारोपव्यवच्छेदसिद्धेः समारोपव्यवच्छेदविषया चेयं कुतः प्रत्यक्षतां स्वातन्त्र्येण प्रमाणतां वाऽऽस्कन्देत् । यदपि 'प्रमेयातिरेकाभावेऽपि सन्देहापाकरणात्प्रमाणं प्रत्यभिज्ञा' इत्यभ्यधायि, तदप्यापातरमणीयं, स्मृतेरपि किमिदं मया दृष्टमुत नेति संशयव्यवच्छेदेन दृष्टमेवेत्युपजायमानायाः प्रमाणताप्रसक्तेः ॥ अपि चालोचनाज्ञानानन्तरं सविकल्पकप्रत्यक्षाभ्युपगमात्कालान्तरादिभावोऽपि तत एव निश्चित इति कुतः सन्देहो यदपाकरणाय प्रत्यभिज्ञादरो युज्यते, न हि निश्चितमनिश्चितं नाम, तस्मात्प्रमेयाधिक्यमेव प्रामाण्यनिबन्धनं, न तु संशयापाकरणमपि तथावक्तुं युक्तम् ॥ यत्तु—"इदानीन्तनमस्तित्वं, न हि पूर्वधिया गतम् ॥" इत्युक्तं, तद् युक्तमेव, इदानीन्तनास्तित्वस्य प्राक्कालीनास्तित्वतो भेदात्, अन्यथा प्राक्तनविकल्पबुद्ध्या वस्त्वव्यतिरेकीदानीन्तनास्तित्वस्य कथम-

ग्रहणम् । यैस्तु निर्विकल्पकं प्रत्यभिज्ञाज्ञानं प्रमाणतयाभ्युपगतं, तेषां तदुत्तरकालभाविसविकल्पकादयो घटादिविषयाः प्रमेयातिरेकाभावात्कथं प्रमाणतामश्नुवीरन्, न हि निर्विकल्पकसविकल्पकयोरन्तराले सन्देहसम्भवोऽपि येन तदपाकरणेनापि प्रामाण्यं व्यवतिष्ठेत । किञ्च पूर्वापरसंवेदनाधिगतभावैकत्वग्राहकं प्रत्यभिज्ञानं कथमध्यक्षस्वरूपं, प्रथमसंविदोऽसत्यास्तत्र ग्रहणासम्भवात्, अन्यथा भाविसमयादिग्रहणस्यापि प्रसङ्गात्, भाविकालाद्यग्रहेऽपि तत्सम्बन्धिरूपग्रहाभ्युपगमे आद्यमृद्दर्शनवेलायामेव त्रैकाल्यस्पर्शिस्थासकुशूलादिसकलव्यक्तिग्रहणप्रसङ्गात् । यदेवोत्तरकालं परामृश्यते तदेव भाविज्ञानविषयीभावस्तु प्रागवगम्यत इति नियमकल्पनान्न दोष इति चेत्, न, तत्त्वं यदि दृश्यमानस्य पूर्वदेशादिपरिगतत्वं तदा पूर्वदेशाद्यसन्निधाने तत्प्रतिभासासम्भवात्, प्रातिभासिकसन्निधानाभ्युपगमेऽपि तद्वर्तमानतापत्तेः, नहि तद्दर्शनप्रतिभासमन्तरेणान्या वर्तमानता नीलादीनामपि, तथापि पूर्वरूपत्वाप्रच्यवे वर्तमानव्यवहारोच्छेदप्रसक्तेः ॥ यदि च दृष्टतैव दृश्यमानस्य तत्त्वं, तदापि तस्याः साम्प्रतिकदर्शने प्रतिभानाभ्युपगमे वर्तमानतापत्तेः पूर्वापरदृगवगतैकत्वक्षतेः । पूर्वदृशि तद्भानाभ्युपगमे च तस्याः प्रच्युतौ तद्ग्राह्यताया अपि प्रच्युतत्वात्॥ न च पूर्वदृष्टताऽप्रतिपत्तावपि पूर्वदृष्टरूपप्रतीतेर्न दोषो, विशेषणाप्रतीतौ विशिष्टाप्रतीतेः, न हि नीलताऽप्रतिपत्तौ नीलोऽर्थोऽधिगतो भवति, यदि च प्राग्दर्शनगोचरोऽर्थो वर्तमानदृशि तत्स्वाभाव्यादेव प्रतिभाति, तदा पूर्वदृग्गोचरसकलपदार्थप्रतिभासनप्रसङ्गः । अथाभेदस्य नियामकत्वम्, न, नीलादेर्भिन्नस्यापि वर्तमानदर्शने प्रतिभासनात्, पूर्वदृष्टस्य वर्तमानदृशि सन्निधानेन प्रतिभासनान्नाऽतिप्रसङ्ग इति चेत्, न, अप्रतिभासेन सन्निधौ सर्वत्रातिप्रसङ्गात्, प्रतिभासेन च सन्निधावितरेतराश्रयात्। एतेन 'पूर्वदृष्टस्याप्रच्युतेर्वर्तमानदृशि भा-

ऋजुसूत्रनयनिरूपणे तदुत्थसौगतमतोपदर्शने क्षणिकत्वबाधकतया परोक्तस्य प्रत्यभिज्ञानप्रमाणस्य खण्डनम् ॥

नम्' इत्यपास्तं, तदप्रच्युतौ प्रमाणाभावात्, तदवगाहिदर्शनस्यैव तत्र प्रमाणत्वेऽन्योन्याश्रयात्, पूर्वदृष्टस्याप्रच्युतौ प्रवर्तमानं दर्शनं प्रमाणं सिद्धयति, तत्प्रामाण्यसिद्धौ च पूर्वदृष्टस्याप्रच्युतिरिति। न च परिस्फुटप्रतिभासबलादेवेयं वर्तमानदृक्प्रमाणं, कामशोकाद्युपप्लुतविशददृशोऽपि प्रमाणताप्रसक्तेः। न च विसंवादात्साऽप्रमाणमियं तु विपर्ययात्प्रमाणं, यतः संवाददृशोऽपि पूर्वदृष्टार्थग्राहित्वेन प्रामाण्यं वाच्यं न संवादान्तरेण, अनिष्ठापातात्, पूर्वदृष्टार्थग्राहित्वं च दुर्निरूपं, पूर्वोत्तरज्ञानयोरेकरूपपरिच्छेदे एकतरपरिशेषात्, ज्ञानद्वयावभासिरूपस्य चोभयाप्रतिभासेऽप्रतिभासात्, अन्यथा सकलातीतज्ञानावभासिरूपप्रतिभासप्रसक्तेः॥ किञ्च यः स इत्याकारयोरन्योन्यानुप्रवेशेन भाने परोक्षापरोक्षरूपमेकं ज्ञानं स्यात्, अन्योन्याननुप्रवेशेन च भाने प्रतिभासद्वयं परस्परविविक्तमायातमिति प्रतिभासस्याऽपि भेद एव ध्रुवः। न चात्रुट्यद्रूपतया प्रतिभासात्प्रतिभासस्यैकत्वमेव, यतो विद्युदादिष्वपि पूर्वरूपाप्रतिभासनं यदि त्रुट्यद्रूपत्वमङ्गीक्रियते, तर्हि पूर्वदृष्टाप्रतिभासनं वर्तमानदृशः स्तम्भादावस्तीति कथं न त्रुट्यद्रूप एवायं प्रतिभासः स्तम्भादिभेदं विधातुं प्रगल्भताम्। अथ ग्राह्यस्याविरतमुपलब्धिरत्रुट्यद्रूपता, विद्युदादौ त्ववभासस्य विरतिरित्यत्रुट्यद्रूपता न युक्तेति चेत्, न, अविरतोपलब्धिरपि किं तस्याहोस्विदन्यस्येति वक्तव्यम्, यद्यन्यस्य कथमेकत्वम्, अथ तस्यैव, सा न सिद्धा, न हि पूर्वदृष्टस्य पुनरुपलब्धिरित्यद्याऽपि सिद्धम्। यदपि पूर्वदृष्टं पश्यामीति व्यवसायबलान्निर्विकल्पकं दर्शनं पूर्वापरैकत्वग्राहीत्यभ्युपगम्यते, तदप्ययुक्तं, व्यवसायमात्रानुसारेण ग्राहकदर्शनाव्यवस्थापनात्, प्रतिभासानुसारेणैव व्यवसायव्यवस्थापनात्, अन्यथाऽश्वविकल्पनसमये गोदर्शनाभ्युपगमानुपपत्तेः। प्रतिभासश्च निरस्तपूर्वापरभावो वर्तमानाऽऽरूढ एव परिस्फुटः। न च पूर्वापरदर्शनप्रतिभासिस्वरूपद्वयव्यतिरिक्तं नीलादि यदुभयत्रैकं भासेतेत्य-

प्रतिभासमाने नित्यत्वसाधने न कापि क्षतिः, प्रतिभासस्यैवानित्यत्वसाधनान्नाध्यवसायवशादध्यक्षग्रहणव्यवस्थेत्येके । अपरे तु मन्यन्ते यद्यपि नीलाध्यवसायान्नीलदर्शनस्य तद्ग्राहकत्वं व्यवस्थाप्यते तथापि लूनपुनर्जातकेशादिषु पूर्वदृष्टं पश्यामीत्यध्यवसायाद् व्यभिचारेण न तस्य तद्रूपार्थग्राह्यनुभवव्यवस्थापकत्वम्, न च विच्छेदाभिज्ञैस्तत्र भेदग्रहणान्मा भूदभेदग्राहितानुभवस्य, अत्र तु नैवमिति वैषम्यमिति वाच्यम्, अवगतविच्छेदानामपि प्रमातॄणां समानवर्णसंस्थानप्रमाणेषु केशादिषु तदन्येषामिव प्रत्यक्षेण भेदनिश्चयाभावात्, आनुमानिकभेदनिश्चयस्य चात्राऽपि साम्यात् । न च विकल्पवशादनुभवस्य विषयव्यवस्था सङ्गच्छते, अन्यथापि विकल्पसम्भवात् शङ्काऽनिवृत्तेः । न च बाधकप्रामाणभावाच्छङ्काभावः, बाधकप्रमाणस्य विपर्ययोपस्थापन एव सामर्थ्यात्, शङ्कायाः कोटिद्वयोपस्थितिविशेषादर्शनमूलत्वात्, तन्नैकत्वाध्यवसायिविकल्पबलान्निर्विकल्पप्रत्यभिज्ञाकल्पनं युक्तिमत् ॥ यदपि कैश्चिदुच्यते निर्विकल्पकं ज्ञानमेकत्वग्राहि, तदनन्तरभाविसविकल्पकं च प्रमाणमिति, तदपि प्रतिविहितमेव, निर्विकल्पकेनैकत्वापरिच्छेदात्, स्वरूपप्रतिभासस्य निर्विकल्पकलक्षणत्वात्, स्वरूपस्य च सन्निहितस्यैव भानात्, असन्निहिते च स्मृतेरेव प्रवृत्तेः, विस्मृतस्य प्राग्दृष्टस्याप्यप्रत्यभिज्ञानात्, स्मृतिविकलेन्द्रियजप्रतिभासस्य च निर्विकल्पकत्वात् । सविकल्पकप्रत्यभिज्ञानमपि भ्रान्तमेव, असद्भूततत्ताविषयत्वात्, तस्याः सद्भूतत्वे प्रथमदर्शनेऽपि भानप्रसङ्गात् । न च स्मृतिसहिताया दृशस्तत्त्वे व्यापारादयमदोषः, अविषये स्मृतिसाहित्यस्याप्यप्रयोजकत्वात्, अन्यथोत्पलचाक्षुषं गन्धस्मृतिसहायं गन्धमपि गृह्णीयात् । यद्येवं कथमक्षव्यापारानन्तरं प्रत्यभिज्ञोदय इति चेत्, पुरो व्यवस्थितदर्शने पूर्वदृष्टे स्मृतेरुदयात्, दूरव्यवस्थितचन्दनाद्यर्थदर्शनाद् गन्धस्मृतेः सुरभि

ऋजुसूत्रनयनिरूपणे तदुत्थसौगतमतोपदर्शने क्षणिकत्वबाधकतया प्रोक्तस्य प्रत्यभिज्ञानप्रमाणस्य खण्डनम् ॥

चन्दनमिति प्रतिपत्तिवत् । लोचनाविषयत्वाद्गन्धस्य तद्विशिष्टचन्दनप्रतिपत्तिस्तद्गतरूपदर्शनाल्लिङ्गप्रभवेति चेत्, प्रकृतेऽपि वर्तमानदर्शनात्पूर्वकालाद्यनुस्मरणात्तद्विशिष्टपुरोऽवस्थितार्थप्रतिपत्तिरानुमानिकीति तुल्यम् । किञ्च सोऽयमिति पूर्वदृष्टार्थस्मृतिवर्तमानदृशोर्भेदाग्रहादेव व्यवहारोऽन्यथा परोक्षापरोक्षाकारैकज्ञानविरोधात्, 'स इत्युल्लेखे' स्मृतेरेव 'अयमित्युल्लेखे' च दर्शनस्यैव हेतुत्वात् । न च तत्तैवेदन्ता, संस्कारजन्यतज्ज्ञाने च स इत्यभिलापः, प्रात्यक्षिकतज्ज्ञाने चायमित्युभयहेतुसमाजात्सोऽयमिति प्रत्यभिज्ञाकारोपपत्तिरिति भवानन्दादिकृतसमाधानमपि युक्तम्, सोऽयमित्याकारयोः परस्परानुप्रवेशप्रसङ्गात्, तथा च कदाचित्स इत्येवोल्लिख्येत, कदाचिच्चायमित्येव, न तु सोऽयमिति नियतोल्लेखः स्यात् । प्रत्यभिज्ञाया उभयाकारावगाहित्वनियमादुभयोल्लेखनियम इति चेत्, तर्हि विषयविशेषं विना धीव्यवहारविशेषाभ्युपगमे साकारज्ञानवादप्रसङ्ग इति यत्किञ्चिदेतत् । एतेन 'स एवायमिति व्यवहारैकत्वादेकत्वम्' इत्यपास्तं, यतो व्यवहारो ज्ञानं, अभिधानं, प्रवृत्तिर्वा, यदि ज्ञानं, तर्हि तन्निर्विकल्पकं, स्मृतिः, कल्पना वा, यदि निर्विकल्पकं, तत्पूर्वापरकालभाविभिन्नमेवैककालमपि पूर्वापरार्थप्रतिभासभेदाद्भिन्नम्, अथ स्मृतिः, साऽपि दर्शनाद्भिन्ना कथं तदेकत्वं साधयेत् ? । न चोभयदर्शनविषयविषयकत्वात्तदर्थैकत्वमेव स्मृत्या साध्यत इत्यभिप्रेतं, मिथोऽननुप्रविष्टाकारभेदावगाहिन्यास्तस्यास्तदसाधकत्वात् । न च कल्पनाप्येकास्ति, स इत्ययमिति च कल्पनाभेदाद् ॥ अभिधानमपि स इत्ययमिति च भिन्नं भिन्नार्थं च प्रतिभाति, एकार्थत्वे पर्यायताप्रसक्तेः । तत्तेदन्ताख्याखण्डोपाधिरूपशक्यतावच्छेदकभेदाद्द्रव्यघटपदयोरिव न पर्यायत्वमिति चेत्, न, अन्यूनानतिरिक्ततयैकार्थवृत्तित्वेन पर्यायत्वाप्रच्यवात्, अन्यथा कम्बूग्रीवादिमद्-घटपदयोरपि

पर्यायत्वानापत्तेः ॥ प्रवृत्तिस्तु क्रियारूपत्वात्पूर्वापरभाविनी भिन्नैवेति कुतो व्यवहारैकत्वादप्येकत्वम् ॥ तेन निर्विकल्पकस्य सविकल्पकस्य वा प्रत्यभिज्ञानस्य प्रामाण्यासिद्धेर्न प्रत्यक्षविरोधमनुभवन्ति क्षणिकवादिनः । यच्च विनाशस्य सहेतुकत्वात्तद्धेत्वभावादेव कियत्कालं स्थैर्यमित्युक्तं, तदप्यसत्, विनाशस्य सहेतुकताया एवासिद्धेः, तथा हि इन्धनादीनामग्निसंयोगावस्थायां त्रितयमुपलभ्यते तदेवेन्धनादि, कश्चिद्विकारोऽङ्गारादिः, तुच्छरूपश्चाभावः कल्पनाज्ञानप्रतिभासी, तत्राग्न्यादीनां क्व व्यापार इति वक्तव्यं, न तावदिन्धनादिजन्मनि, स्वहेतुत एव तेषामुत्पत्तेः, नाप्यङ्गारादौ, विवादाभावात्, किन्त्वग्न्यादिभ्योऽङ्गाराद्युत्पत्ताविन्धनादेरनिवृत्तत्वात्तथैवोपलब्ध्यादिप्रसङ्गः, न चाङ्गारादिभ्यः काष्ठादेर्नाशान्नायं दोषः, ततो वस्तुरूपापरध्वंसोपगमेऽपि काष्टादेस्तदवस्थत्वात् ॥ काष्ठनाशोपलब्धेः काष्ठोपलब्धिप्रतिबन्धकत्वात्तदनुपलब्धिरिति चेत्, न, अतिरिक्तकाष्ठनाशस्यैवानुपलब्धेः, तदिदमुच्यते—‘ दृष्टस्तावदयं घटोऽत्र निपतन् दृष्टस्तथा मुद्गरो, दृष्टा कर्परसंहतिः परमतोऽभावो न दृष्टोऽपरः ॥ तेनाऽभाव इति श्रुतिः क्व निहिता किं वाऽत्र तत्कारणं, स्वाधीना कलशस्य केवलमियं दृष्टा कपालावली ॥१॥ ’ इति ॥ अथ काष्ठादेरङ्गारादिकमेव ध्वंसो नापर इति ततो नोपलब्ध्यादिप्रसङ्ग इति चेत्, काष्ठादेरङ्गारादिकमेव ध्वंसो नापर इत्यत्र किं निबन्धनं, तस्मिन्सति तन्निवृत्तिरिति चेत्, न, तुच्छस्वभावनिवृत्त्यनङ्गीकरणेऽङ्गारादिभावेऽङ्गारादिभावात्काष्ठादेरङ्गारादिकमेव ध्वंस इति वाक्यार्थः स्यात्, स च स्वात्मनि क्रियाविरोधादसङ्गतः । अव्यक्तस्वात्मरूपविकारान्तरं ध्वंस इत्यप्यनुद्घोष्यं, बुद्ध्यादीनामात्मरूपविकारापत्तौ प्रमाणाभावात्, प्रदीपादेश्चाव्यक्तरूपस्य विकारस्य कार्यविशेषादर्शनेनासिद्धेः । तन्न भावान्तरं प्रध्वंसाभावः, भावान्तरस्य च प्रध्वं-

ऋजुसूत्रनयनिरूपणे तदुत्थसौगतमतोपदर्शने विनाशसहेतुकत्वतःपरस्य स्थैर्यसाधनस्य खण्डनम् ॥

सत्वे तद्विनाशाद् घटाद्युन्मज्जनप्रसङ्गः, घटप्रागभावतत्प्रध्वंसानाधारकालस्य घटाधारत्वव्याप्यत्वात्, न च कपालादेर्भावरूपतैव ध्वस्ता नाभावात्मकतेति नायं दोषः, धर्मिप्रच्यवे धर्मप्रच्यवान्निराश्रयधर्मावस्थानायोगात् । कपालादिकार्यपरम्परायामेव घटध्वंसत्वस्वीकारान्न दोष इति चेत्, न, एवं सति घटध्वंसत्वस्य व्यासज्ज्यवृत्तित्वे यावदाश्रयभानं विनाऽभानप्रसङ्गात्, प्रत्येकं वृत्तित्वे च नानात्वेनाननुगमप्रसङ्गात्, तन्नानात्वस्य प्रतीतिबाधितत्वाच्च । एतेन 'कपालादिरूपस्य घटध्वंसस्याप्यऽस्तु ध्वंसः, न चैवं घटोन्मज्जनप्रसङ्गः, घटध्वंसध्वंसादिपरम्परानाधारकालत्वस्य घटाधारत्वव्याप्यत्वाद्' इत्यप्यपास्तं, गौरवात्, घटध्वंसो ध्वस्त इत्यादिप्रतीत्यभावाच्च, तन्न कपालादिरूपं भावान्तरं घटादेर्ध्वंसः, नवा तत्र कारकव्यापारसम्भवः, क्रियाप्रतिषेधमात्रप्राप्तेः, अकारकस्य च हेतुमत्त्वाभ्युपगमो विरोधाघ्रातत्वादेव न श्रद्धेयः, हेतुमत्त्वे वाऽभावस्य कार्यत्वादभावरूपताप्रच्युतिः, 'भवनधर्मा हि भावः' अङ्कुरादेरपि भावशब्दप्रवृत्तिनिमित्तं नापरमुपलभ्यते, तच्चेदभावेऽस्ति कथं न भाव इति ?। अर्थक्रियासामर्थ्यं भावशब्दप्रवृत्तिनिमित्तं तच्चाभावे नास्तीति चेत्, न, सर्वसामर्थ्यविकलस्य प्रतीतिविषयत्वायोगात्, प्रतीतिजनकत्वे सर्वसामर्थ्यायोगासिद्धेः । अथ यथा घटपटादीनां भेदः प्रतिनियतज्ञानविषयतया, तथा भावाभावयोः कार्यत्वाविशेषेऽपि सदसत्प्रतीतिविषयतया भेदः सेत्स्यतीति चेत्, न, असत्प्रत्ययविषयतया शशशृङ्गादिवत्कार्यताया अप्यस्य दूरोत्सारणात् । अथ स्वहेतुभावे भावादस्य कार्यता, कथं न सत्प्रत्ययविषयता, यो हि भवतीति प्रतीयते स सन्नित्यपि प्रतीयते, न ह्यस्ति-भवति-सद्भाव इत्यादिशब्दानां कश्चिदर्थभेदो विद्वद्भिरिष्यते । अभावात्मकतयैवासौ भवतीत्यदोष इति चेत्, न, व्याहतत्वात्, न भवतीति ह्यभाव उच्यते स कथं भवतीति ?। स्वप्रा-

हिणि ज्ञाने प्रतिनियतेन रूपेणाप्रतिभासनादभाव इत्येतदपि न वक्तव्यम्, अत्यन्तपरोक्षचक्षुरादीनामप्यभावत्वापत्तेः । किञ्च यद्यभावरूपो विनाशो हेतुमांस्तदा हेतुभेदात्तद्भेदप्रसङ्गो, न चायमनुभूयतेऽग्न्यभिघातादिहेतुभेदेऽपि घटनाशभेदाननुभवात्, तस्मादहेतुरेवायं निःस्वभावस्तुच्छोऽभ्युपगन्तव्यः, अग्निसंयोगादयस्तु काष्ठादिष्वङ्गारादिकमेव जनयन्ति काष्ठादयश्च स्वरसत एव निरुध्यन्त इत्यनवद्यम्, लोकश्चाकिञ्चिद्रूपतामेव नाशस्य प्रतिपद्यते, तत्त्वमपि चाऽसतोऽकिञ्चिद्रूपतैव, यतोऽवैपरीत्यं तत्त्वमुच्यते, न चैतद्विपरीतं यदकिञ्चिद्रूपो ध्वंस इति । किञ्च स्वभावतो भावानां नश्वरत्वेऽपरव्यापारवैफल्यात्, अनश्वरत्वे च सत्स्वभावस्यान्यथाकर्तुमशक्यत्वाद्व्यर्थो नाशहेतुः । अथ स्वहेतुभिर्नियतकालस्वभावः पदार्थो जनित इति नोत्पादानन्तरमेव विनंष्टुमुत्सहत इति चेत्, तर्हि तस्मिन्नेव स्वभावे व्यवस्थितः कथमन्तेऽपि विनश्येत्, तथा चान्तेऽन्ते तावत्तावत्कालस्थायिस्वभावानपगमे सदा स्थास्नुरेव स्यात् । तत्स्वभावापरावृत्तावकिञ्चित्करैर्मुद्गरादिभिस्तन्नाशायोगात् ॥ न च भवतामप्यकिञ्चित्करमपि मुद्गरादिकमपेक्ष्य कथं प्रवाहो निवर्तत इति वाच्यम्, यतो न विशरारुक्षणव्यावृत्तोऽपरः प्रवाहो विद्यते, यो निवर्तमानोऽकिञ्चित्करं मुद्गरादिकमपेक्षत इति प्रतिजानीमहे, किन्तु परस्परविविक्ताः पूर्वापरक्षणा एव प्रवाहः, ते च स्वरसत एव निरुध्यन्त इति न क्वचिदकिञ्चित्करापेक्षा निवृत्तिः, केवलं मुद्गरादिना रहिता सामग्र्यविभक्तं कार्यं सम्पादयति, तत्सन्निधाने तु विभक्तं कार्यान्तरं जनयतीति विशेषो, नतु मुद्गरादयः कारणसामर्थ्यं खण्डयन्तीति, अतो यदुक्तं–"स्वभावोऽपि स तस्येत्थं, येनापेक्ष्य निवर्तते ॥ विरोधिनं यथान्येषां, प्रवाहो मुद्गरादिकम् ॥१॥ इति," तदपि प्रतिक्षिप्तं द्रष्टव्यम् ॥ अथायं विकल्पः सर्वगतत्वादसारः, तथा ह्युत्पादेऽप्येवं शक्यत एव वक्तुं स्वभा-

ऋजुसूत्रनयनिरूपणे तदुत्थसौगतमतोपदर्शने पराभिमतनाशस्य खण्डनम् ॥

वतो ह्युत्पत्तिस्वभावस्य न किञ्चिदुत्पत्तिहेतुभिः, तत्स्वभावतयैव समुत्पादात्, अनुत्पत्तिस्वभावस्य तु व्यर्था उत्पत्तिहेतवः, तद्भावान्यथात्वस्य कर्तुमशक्यत्वात्, मैवं, यतो यद्यभूत्वा भवनलक्षणोत्पत्तिस्वभावहेतोरकिञ्चित्करत्वं, तदा इष्टापत्तिरेव । अथोत्पत्तौ स्वभाव आभिमुख्यलक्षणो यस्य सन्निहितकारणकलापानन्तरभाविनस्तस्य व्यर्थत्वमभिधातुमभिप्रेतं, तदसन्निहिततथाभूतकारणवशात्तथा व्यपदेशहेतोर्व्यर्थता युक्ताऽनुत्पत्तिस्वभावहेतुवैफल्यं चाभीष्टमेव, न ह्युत्पत्तिहेतवोऽभावान् भावीकुर्वन्ति । नन्वेवं कथमुत्पद्यतेऽसदितीष्यते, कारणानन्तरं यः सद्भावः स प्रागसन्नित्ययमत्रार्थो, न पुनरभावो भावत्वमापद्यत इति, हन्त यद्येवं तर्हि तु को भावस्य विनाश उत्पादोऽपि तथैवास्तु भावधर्मत्वाविशेषात्, नैवं, यतो न नाम विनाशोऽन्य एव कश्चिदुदयापवर्गिणो भावात्, भावश्च स्वहेतोरेव तथाभूत उत्पन्नो न कश्चिद्धर्मोऽस्यानिमित्तः, केवलं तमस्य स्वभावं पश्यन्नपि मन्दबुद्धिर्न विवेचयति, दर्शनपाटवाभावात्, यदा तु विसदृशः कपालादिक्षणः प्रत्ययान्तरोपनिपातादुत्पद्यते, तदा भ्रान्तिकारणविगमात्प्रत्यक्षनिबन्धनः क्षणक्षयनिश्चय उत्पद्यते, अनुमानतस्तु विदुषः प्रागपि भवत्येव, यथा विषयरूपदर्शनेऽप्यतत्कारिपदार्थसाधर्म्यविप्रलब्धो न कारणशक्तिं निश्चिनोति प्राक्, पश्चाच्च विकारदर्शनात्तन्निश्चयो, न च शक्तिशक्तिमतोर्भेद इति, उक्तं च सौगतैः "जातस्य च स्वभावस्य विनश्वरत्वेऽन्यानपेक्षणमात्रेण निर्हेतुको नाश उच्यते" इति ॥ स्थितमेतत् प्रत्यक्षतोऽनुमानतश्च सर्वभावानां क्षणिकत्वमिति ॥ एतच्च द्रव्यार्थिकनिःक्षेपविचारे सम्मतावेव यथा दूषितं तथैव किञ्चित्संक्षिप्य विविच्य लिख्यते, तत्र क्षणक्षयित्वे यदध्यक्षं प्रमाणमुक्तं, तदसत्, स्थिरस्थूररूपाणामेव घटादीनां प्रतिभासात्, न चान्यादृग्भूतार्थप्रतिभासोऽन्यादृग्भूतार्थव्यवस्थापकोऽतिप्रसङ्गात् ॥ न च सदृशापरापरोत्पत्तिदोषादत्र यथानुभवं न विकल्पो-

ऋजुसूत्रनयनिरूपणे तदुत्थसौगतमतोपदर्शनस्य समाप्तिः तत्खण्डनारम्भश्च ॥

त्पत्तिः, नीलादिष्वप्येवमनाश्वासप्रसङ्गात्, यथाहि परमार्थतोऽसदृशा अपि सदृशविकल्पोत्पादकदर्शनहेतवो भावाः सदृशव्यवहारभाजस्तथा स्वयमनीलादिस्वभावा अपि नीलादिविकल्पोत्पादकदर्शननिमित्ततया नीलादिव्यवहारभावत्वं प्रपत्स्यन्त इति शङ्कापिशाचीप्रचारस्य दुर्निवारत्वात्। निश्चयानुरूपेणैव च प्रत्यक्षस्य प्रामाण्यम्, अन्यथा दानहिंसाविरतिचेतसामपि स्वर्गप्रापणशक्तेरध्यक्षत एवावगतेर्न तत्र विप्रतिपत्तिरिति तद्व्युदासार्थमनुमानप्रवर्तनं शास्त्रविरचनं वा सौगतानां वैयर्थ्यमनुभवेत्। निश्चयश्च संहृतसकलविकल्पावस्थायामश्वविकल्पनसमय एव च प्रणिधानानन्तरं पुरोऽव्यवस्थितस्य गवादेः स्थिरस्थूररूपस्यैवेति कथं क्षणिकत्वेऽध्यक्षं प्रमाणम्। नाप्यनुमानात्तन्निश्चयः, तत्राध्यक्षाऽप्रवृत्तावनुमानस्याप्यनवतारात्, तथाह्यध्यक्षाधिगतमविनाभावमाश्रित्य पक्षधर्मतावगमबलादनुमानमुदयमासादयतीति, अध्यक्षानवगते तु विषये स्वर्गादाविवाध्यवसायफलस्यानुमानस्य प्रवृत्तिरेव सौगतैरभ्युपगता, तथा च तदाचार्यः॥ "अदृष्टेऽर्थे विकल्पनमात्रम्" इति, किञ्च स्थायितावगाहिप्रत्यभिज्ञाबाधितत्वादेव क्षणिकत्वे नानुमानं प्रमाणं साधीयः। न च लूनपुनर्जातकेशादिष्वेकत्वप्रत्यभिज्ञोदयान्नासावेकत्वे प्रमाणम्, एवं सति कामलोपहतदृशां धवलिमानमाबिभ्राणेषु पीतदर्शनमुदेतीति वास्तवपीतेष्वपि तन्न प्रमाणतामासादयेत्, दोषगुणप्रभवत्वविशेषस्तूभयोः समानः। लूनपुनर्जातनखकेशादिषु भेदाभेदाध्यवसायादुभयतैवास्तु, स्तम्भादिषु तु विशददर्शनावभासिषु क्षणक्षयविकला स्थायिता प्रतिभातीति तेषां स्थिररूपतैवास्त्वित्यन्ये। न च परिच्छिद्यमानस्य वस्तुनः पूर्वकालतापि प्रत्यभिज्ञया निश्चेयेत्यवस्तुधर्मग्राहकत्वात्तदप्रामाण्यं, पूर्वकालीनस्य पूर्वकालीनत्वेन ग्रहेऽवस्तुधर्मग्राहकत्वाभावात्। न च सन्निहितविषयबलादुत्पत्त्याऽविचारकेणाध्यक्षेण पूर्वकालसम्बन्धित्वं परामर्ष्टुमशक्यम्, असन्निहितस्याप्यतीतकालत्वस्य

ऋजुसूत्रनयनिरूपणे तदुत्थसौगतमतखण्डने क्षणिकत्वानुमानबाधकप्रत्यभिज्ञाप्रामाण्यस्थापनम्॥

सन्निहितविषयप्रत्यासत्तिमहिम्नाऽध्यक्षेण निश्चयाविरोधात्, यथान्त्यसङ्ख्येयग्रहणकाले शतमिति प्रतीतिः क्रमगृहीतानपि संख्येयान्मिश्रिन्वाना न विरुध्यते । न चैषाऽनिन्द्रियजा, इन्द्रियान्वयव्यतिरेकानुविधानात् । नाप्यनर्थजा, सन्निहितान्त्यसङ्ख्येयजन्यत्वात् । न चैकावभासिनी, एकप्रतिपत्तिसमये शतमित्यप्रतीतेः, अन्यथा प्रथमव्यक्तिप्रतिभाससमय एव तत्प्रसङ्गात् । न वाऽप्रमाणं, बाधकाभावात्, घटाद्यध्यक्षेण तुल्यत्वादिति । न चात्र सङ्ख्येयानां विद्यमानता प्रत्यभिज्ञायां पूर्वकालतायास्त्वविद्यमानतेत्यस्ति विशेषः । पूर्वावगतयत्किञ्चित्सङ्ख्येयविगमेऽपि शतप्रतीतेः । न च वर्तमानकालावच्छिन्नस्यावर्तमानकालावच्छिन्नेन सह समावेशानुपपत्तेस्तत्तेदन्ताविशिष्टैकत्वग्राहिणः प्रत्यभिज्ञानस्याप्रामाण्यमिति वाच्यम्, छत्रकुण्डलाद्यवच्छिन्नस्य देवदत्तादेरिव परस्परविरुद्धकालावच्छिन्नस्याप्येकत्वाविरोधेन तदप्रामाण्यासिद्धेः । न च देवदत्तादेः सहभाव्यनेकविशेषणावच्छिन्नत्वादेकत्वमविरुद्धं, तदभावनियतभावलक्षणस्य विरोधस्य सहसम्भविनामभावात्, प्रकृते तु प्रागुक्तविरोधशालिविशेषणद्वयविशिष्टस्य नैकत्वं न्याय्यमिति वाच्यम्, एकप्रतिभासबलादेवैकत्वसिद्धेः, अन्यथा नीलसंवेदनस्यापि स्थूलाकारावभासिनो विरुद्धदिक्सम्बन्धात्प्रतिपरमाणु भेदप्रसक्तेः तदवयवानामपि दिक्षट्कयोगाद्भेदापत्तितोऽनवस्थाप्रसक्तेः प्रतिभासविरतिलक्षणा शून्यता स्यादिति सर्वव्यवहारविलोपः । अथवा तदेवेदमिति ज्ञानस्यानिन्द्रियजस्यालिङ्गजस्यापि बाधरहितत्वेन प्रामाण्यमवश्यमभ्युपगन्तव्यम्, अन्यथैवंजातीयस्य कस्यापि प्रामाण्यानभ्युपगमेऽक्षजस्य सन्निहितार्थमात्रग्राहित्वेन लिङ्गजस्य चानवस्थाप्रसक्तितः सकलपदार्थाक्षेपेण प्रतिबन्धग्राहकत्वायोगादनुमानप्रवृत्तेरभाव इति कुतस्तदेकप्रमाणकक्षणिकत्वादिधर्मसिद्धिः सौगतानाम्, न हि ते नैयायिकादय इव सामान्यप्रत्यासत्तिं

ऋजुसूत्रनयनिरूपणे तदुत्थसौगतमतखण्डने क्षणिकत्वानुमानबाधकप्रत्यभिज्ञाप्रामाण्यस्थापनम् ॥

सर्वाक्षेपेण प्रतिबन्धग्राहिकामभ्युपगच्छन्ति । यैरपि सामान्यप्रत्यासत्तिरभ्युपेया, तेषामपि ज्ञातस्य सामान्यस्य सामान्यज्ञानस्य वा प्रत्यासत्तित्वे वह्नित्वसामान्यप्रत्यासत्त्या कथञ्चिद् यावद्वह्निभानसम्भवेपि वह्निमत्त्वादेर्वह्निसंयोगादिरूपस्य सामान्यत्वाभावेन तत्प्रत्यासत्त्या यावद्वह्निमदादिभानानुपपत्तिः । न च तत्राऽपि स्वाश्रयादिसम्बन्धेन वह्नित्वादिकमेव प्रत्यासत्तिः, न चैवं समवायेन वह्नित्वप्रकारकज्ञानादपि वह्निमतां प्रत्यक्षापत्तिः, परम्परासम्बन्धेन वह्नित्वप्रकारकज्ञानस्यैव तद्धेतुत्वात्, न चैवं वह्निमदितिज्ञानानन्तरं तन्न स्यात्, प्रकारीभूतस्य वह्नेः संसर्गतयापि भाने बाधकाभावात्, अत एव ‘ विशेषणविधया जनकज्ञाने प्रकारीभूतस्यैव संसर्गत्वे जन्यज्ञानेऽपि तथात्वमितरथा तूभयत्रैव प्रकारतानाक्रान्तमेव संसर्गत्वमिति, सर्वत्र वह्नित्वेनैव वह्निमतां भानं स्यादिति ’ कुचोद्यमपास्तमिति वाच्यं, तथाप्यभाववदादिप्रत्यक्षस्थले सामान्यप्रत्यासत्तिताया वक्तुमशक्यत्वात्, तत्राप्यभावत्वादेरखण्डोपाधेः सामान्यत्वस्वीकारे च तेनैव जात्युच्छेदाद्दत्तस्तस्यै जलाञ्जलिः । किञ्च परम्परासम्बन्धेन वह्नित्वादिप्रकारकज्ञानं विनापि साक्षात्सम्बन्धेन वह्निमत्त्वादिप्रकारकज्ञानादपि यावद्वह्निमदादिप्रत्यक्षानुभवस्य सार्वजनीनत्वाद्वह्निमत्त्वादेरपि सामान्यत्वं ध्रुवम्, साक्षात्सम्बन्धेन वह्निमत्त्वप्रकारके परम्परासम्बन्धेन वह्नित्वप्रकारकत्वमावश्यकमिति चेत्, तर्हि जातिप्रकारके जातित्वप्रकारकत्वमावश्यकमिति जातिमदादिप्रत्यक्षे जातित्वादेः प्रत्यासत्तित्वं स्यात्, तच्चायुक्तमिति, वह्निमत्त्वादेर्जातिमत्त्वादेश्च सामान्यत्वे ध्रुवे च वह्निमदादेरेव जातिमदादेरेव च सामान्यत्वकल्पने लाघवं, सखण्डाखण्डसम्भिन्नैकस्वभावस्य वस्तुनः प्रामाणिकत्वात्, तथा च धूमादेर्धूमसामान्यत्वेन ज्ञाने यावद्धूमज्ञानमनक्षजमलिङ्गजं सर्वोपसंहारेण प्रतिबन्धग्राहकमूहप्रमाणाख्यमवश्यमभ्युपेयमिति किमप्रकृतेन ॥ विवेचितमिदमन्यत्र ।

ऋजुसूत्रनयनिरूपणे तदुत्थसौगतमतखण्डने प्रसङ्गाद्व्याप्तिग्राहकतया न्यायाभिमतायाः सामान्यप्रत्यासत्तेः खण्डनमूहप्रमाणस्य तत्त्वञ्च।

यच्च 'नित्यात्क्रमयौगपद्याभ्यामर्थक्रियासामर्थ्यलक्षणा सत्ता निवर्तमाना क्षणिकेष्वेवावतिष्ठत' इत्याद्युक्तं, तदसत्, क्रमेण कार्यजननेऽपि जनकत्वाजनकत्वस्वभावभेदस्य वस्तुभेदासाधकत्वेन तन्नित्यत्वाप्रच्यवात्, यतः क्रमोपेतकार्योपलम्भाद्धेतोर्जनकाजनकस्वभावभेदं कल्पनाऽध्यवस्यति, न च तत्प्रदर्शितस्वभावभेदाद्भावा भिद्यन्ते, अन्यथा कल्पना भावानामेकत्वमप्यध्यवस्यतीति नित्यतापि तेषां भवेत्, यदि चोदितानुदितप्रयोजनापेक्षः कल्पनारोपितोऽपि जनकाजनकस्वभावभेदो भावानामभ्युपगन्तव्यस्तदा स्वपरोत्पाद्यकार्यापेक्षया क्षणेऽपि कल्पनारोपितो जनकाजनकस्वभावभेदः स्यादभेदप्रतिभासेन कल्पनाबाधस्तूभयत्र तुल्यः, नानाकार्यजनकैकस्वभावस्यानुभवसिद्धस्य वस्तुनः प्रत्याख्यातुमशक्यत्वात् ॥

किञ्च यदि नाम क्रमयौगपद्याभ्यां नित्यादर्थक्रिया व्यावृत्ता तथापि न ततः क्षणक्षयसिद्धिः, अक्षणिकेभ्य इव क्षणिकेभ्योऽप्यस्या व्यावृत्तत्वात्, यतः क्षणिका अपि कार्यं केवला एकमुत्पादयन्ति उताऽनेकं, समुदिता अपि तदेकमनेकं वा, न तावदेकमुत्पादयन्ति, अदर्शनात्, अनभ्युपगमाच्च, एकस्मादेवाग्नेरिन्धनविकारधूमभस्माद्यनेककार्यदर्शनात्, "न वै किञ्चिदेकं जनकम्" इत्यभ्युपगमाच्च, नाप्येकमनेकोत्पादकं, सामग्र्या एव जनकत्वाभ्युपगमात्, अनेकस्मात्कार्योत्पत्त्युपलब्धेश्च, नाप्यनेकमेकोत्पादकम्, अनेकस्मादुपजायमानस्य कार्यस्य नानात्वस्य न्यायप्राप्तत्वात्, इष्यते च सौत्रान्तिकवैभाषिकाभ्यां सञ्चितेभ्यः परमाणुभ्यः सञ्चितानामेव तेषामुत्पत्तिः, सञ्चितपरमाणुव्यतिरेकेण भिन्नस्य वस्तुनोऽनभ्युपगमात्, संवृत्यैकस्य घटादेश्चाजन्यत्वात्, ज्ञानमपि विषयालोकमनस्कारादिसामग्रीप्रभवं नैकं युक्तं, नापि तदेकरूपमभ्युपगम्यते, अन्तरहङ्कारास्पदसुखादिरूपस्य बहिश्च तद्विपरीतस्य ग्राह्यग्राहकाकारोभयरूपस्य तस्य संवेदनात् । अथायमनयोर्भेदाव-

ऋजुसूत्रनयनिरूपणे तदुत्थसौगतमतखण्डने अर्थक्रियासामर्थ्यस्य नित्याद्व्यावृत्त्या क्षणिकेऽवस्थास्यनखण्डनम् ॥ ॥ ५१ ॥

भासो भिन्नयोरिव, न पुनर्भिन्नयोरेव, तदुक्तम् " ग्राह्यग्राहकसंवित्ति–भेदवानिव लक्ष्यत " इति ॥ नैतदेवं, बाह्यार्थवादत्यागप्रसक्तेः । न च ग्राह्यग्राहकाकारयोः सांवृतत्वं, ग्राहकाकारस्य बोधरूपतया समनन्तरप्रत्ययजनितत्वेन ग्राह्याकारस्य च विषयार्पितत्वेन कारणान्वयव्यतिरेकानुविधायितयाऽसांवृतत्वात् । न च निराकारमभिन्नस्वभावमेकसामग्रीजन्यं ज्ञानं सम्भवति, परमते निराकारस्य विषयाग्राहित्वात्, तस्मान्नैकमनेकजन्यमिति स्थितम् ॥ नापि पूर्वसामग्रीत उत्तरा सामग्री प्रभवतीति बौद्धसिद्धान्तमनुरुध्याऽनेकमनेकमुत्पादयतीति वक्तुं युक्तं, रूपज्ञानादीनां ज्ञानरूपादिजन्यत्वेन ज्ञानरूपादित्वापत्तेः । न चावान्तरकारणविशेषात्कार्यविशेषः, तथाहि चक्षूरूपालोकमनस्कारादिषु विज्ञानादिकार्योत्पादकेषु मनस्कारो विज्ञानमुपादानत्वेन जनयति, शेषकार्याणि सहकारित्वेन, एवं रूपादिकमपि रूपादिकमुपादानत्वेन, शेषाणि सहकारित्वेनेत्यवान्तरसामग्रीभेदेन तज्जन्मनां स्वभावभेद इति वाच्यं, मनस्कारादीनां ज्ञानादौ येन रूपेण जनकत्वं तेनैव चक्षुरादिजनकत्वे चक्षुरादीनां ज्ञानादित्वापत्तेः, कार्ये सकलस्वगतविशेषाधायकत्वस्योपादानलक्षणत्वात्, रूपान्तरेण च मनस्कारादीनां चक्षुरादिजनकत्वे कथं न स्वभावभेदः ॥ उपादानसहकारिशक्तिभेदेऽपि स्वसंविद्येकत्वेनावभासनान्मनस्कारस्यैकत्वमिति चेत्, नन्वेवमक्षणिकस्यापि तदतत्कालभाविकार्यजनकत्वस्वभावभेदेपि प्रत्यक्षेणैकत्वेन प्रतिभासनात्कथं नैकत्वम् । उपादानत्वसहकारित्वे जनकत्वविशेषरूपे कार्यभेदेन जनकत्वाजनकत्वरूपे वा न विरुद्धे इति चेत्, तदतत्कार्यजनकत्वेऽपि तथा न विरोत्स्येते इति तुल्यम् । अन्त्यावस्थायां सर्वेषां प्रत्येकमभिमतकार्यजनकत्वमन्यसन्निधिस्तु स्वहेतुप्रत्ययसामर्थ्योपनीतावर्जनीयसन्निधिर्नोपालम्भमर्हतीत्येकैकस्यैवोत्पादकत्वं युक्तमित्यपि नापेशलं वचः, अन्वयिद्रव्या-

ऋजुसूत्रनयनिरूपणे तदुत्थसौगतमतखण्डने तन्मते क्षणिकस्यैकस्यानेकस्य चैकानेककार्यजनकत्वासम्भवप्रदर्शनम् ॥

श्री अनेकान्त-व्यवस्था-प्रकरणम् ॥

॥ ५२ ॥

भावे मनस्कारस्यैवान्त्यक्षणस्थस्य चक्षुर्विज्ञानं प्रत्युपादानत्वं न रूपादेरित्यत्र विनिगमकाभावात्, व्यावहारिकान्वयव्यतिरेकदर्शनस्य मनस्कारादाविव रूपादावपि तुल्यत्वात्। एतेन 'कुर्वद्रूपत्वेनैव हेतुत्वं कारणत्वेनैव च कार्योत्पत्तिव्याप्यत्वम्' इत्यपास्तं, कुर्वद्रूपत्वस्य जातिरूपस्यानभ्युपगमात्, अतद्व्यावृत्तिरूपस्य चेकैकक्षणग्रहणविनिर्मोकाभ्यां विनिगमनाविरहात्, कुर्वद्रूपत्वस्य कार्यैकगम्यतया कार्योत्पत्तेः प्रागिष्टसाधनताज्ञानाधीनप्रवृत्त्यनुपपत्तेः, जातिप्रतिनियतकार्यकारणभावाभावेऽवह्नेरपि धूमसम्भावनया प्रसिद्धानुमानस्याप्युच्छेदापत्तेः, तस्मात्क्षणिकेभ्योऽप्यर्थक्रियासामर्थ्यलक्षणं सत्त्वं निवर्तमानं श्रावणत्ववदसाधारणानैकान्तिकतामास्कन्ददसाधकम्। किञ्चार्थक्रियालक्षणं यत्सत्त्वं हेतुरुच्यते, तत्र किमर्थक्रियातः सत्त्वं भावानामुत सत्त्वादर्थक्रिया, आद्ये प्रागसत्त्वप्रसङ्गः, अन्त्ये च स्वरूपसत्त्वमायातम्। किञ्चार्थक्रियाया भावानां सत्त्वनियामकत्वे तस्या अपि सत्त्वनियामिकयाऽपरार्थक्रियया भवितव्यं, तस्या अप्यपरयेत्यनवस्थानात् स्वरूपसत्त्वमेव भावानामवश्यमभ्युपेयं, तच्च न क्षणिकत्वव्याप्यमिति नानुमानात् क्षणिकत्वसिद्धिः। यदपि 'निर्हेतुको ध्वंसः पदार्थोदयानन्तरभावीति तेषां क्षणिकत्वमुच्यते,' तदप्यसत्, निर्हेतुकस्याऽपि ध्वंसस्य मुद्गरादिव्यापारानन्तरमुपलब्धेस्तदैव तत्सद्भावाभ्युपगमस्य युक्तत्वात्। न च मुद्गरादिव्यापारानन्तरमस्य दर्शनात् प्रागपि सद्भावकल्पनं, प्रागदर्शनादग्रेऽप्यभावस्य सुवचत्वात्। कारणान्तरमनपेक्षमाणो ध्वंसो भावसत्तामात्रानुबन्धीति प्रतिक्षणध्वंससिद्धिरिति चेत्, न, सत्तायां क्षणिकत्वासिद्धौ क्षणिकसत्तानुबन्धित्वस्य नाशे वक्तुमशक्यत्वात्, अनेकक्षणस्थितिकसत्तानुबन्धित्वोक्तौ चानेकक्षणस्थितिकसत्तानुभवानन्तरमेव भावेन नंष्टव्यमिति ॥ किञ्च निर्हेतुकत्वे ध्वंसस्य प्रथमक्षण एव तद्भावप्रसक्तिः स्याच्चोदयानन्तरं, न हि

ऋजुसूत्रनयनिरूपणे तदुत्थसौगतमतखण्डने तदभिमतकुर्वद्रूपत्वार्थक्रियासामर्थ्यलक्षणसत्त्वादेः खण्डनम् ॥

॥ ५२ ॥

निर्हेतुकस्य क्वाचित्कत्वं कादाचित्कत्वं वा युक्तं, व्याघातात्। न च भावहेतुरेव तत्प्रच्युतिहेतुरतिरिक्तहेत्वभावाच्च निर्हेतुकत्वं पदार्थाभावे च कुतस्तत्प्रच्युतिरिति प्रथमक्षण एव न ध्वंस इति वाच्यं, भावप्रभववेलायां तत्प्रच्युतेरनुत्पत्तौ भावहेतुरेव तद्धेतुरित्यस्य वक्तुमशक्यत्वात्, भावोत्पादनद्वारा भावहेतुस्तद्धेतुर्भावोऽपि वा तद्धेतुः प्रतियोगितद्धेत्वितरहेत्वनपेक्षत्वमेव निर्हेतुकत्वमिति तु यादृच्छिकपरिभाषामात्रं, मुद्गरादिव्यापारानन्तरमेव तत्र तद्धेतुकत्वस्य प्रमाणतो व्यवस्थितेः, अन्यत्राऽपि कार्यकारणभावेऽन्वयव्यतिरेकयोरेव नियामकत्वात् । किञ्च परैरपि मुद्गरादीनां विरोधित्वं व्यवस्थापयद्भिः 'गलेपादुका' न्यायेन नाशकारणत्वमवश्यमभ्युपेयं, तथाहि न ते कणभुगादय इव कार्यकारणभावात् पृथग्विरोधाख्यं सम्बन्धमभ्युपेयं(पयन्ति),किन्तु घटक्षणो मुद्गरादिकं विनाशकारणत्वेन प्रसिद्धमपेक्ष्य समानक्षणान्तरोत्पादनेऽसमर्थं क्षणान्तरमुत्पादयति, तदपि तदपेक्षमपरमसमर्थक्षणान्तरं तदप्युत्तरं तदपेक्षमसमर्थतमं यावद्घटसन्ततेर्निवृत्तिः, एवमन्यत्रापि विरोधित्वं प्रतिपादयन्ति, तथा चासमर्थक्षणान्तरजनकस्य क्षणस्य मुद्गरादेः कश्चित्सामर्थ्यविघातोभ्युपगन्तव्य एव, अन्यथा समर्थक्षणान्तरजननस्वभावात्ततो मुद्गरादिसन्निधानेऽप्यसमर्थक्षणानारम्भप्रसङ्गात् ॥ न च स्वहेतुतोऽसमर्थजननस्वभावस्य तस्योत्पत्तेर्नायं दोषः, प्रथमक्षण एव सन्तत्युच्छेदप्रसक्तेः ॥ मुद्गरादिसन्निधानसहभाविनः स्वहेतुत एवासमर्थक्षण उत्पद्यत इति चेत्, न, मुद्गरादिना प्राक्तनशक्त्यनाशने तत्सन्निधिवैयर्थ्यात् ॥ न चाकिञ्चित्करस्यापि मुद्गरादेः स्वहेतुसन्निधिबलायातत्वात्तत्समवहितत्वस्य घटक्षणेऽसमर्थक्षणान्तरजननकाले नोपालम्भविषयतेति वाच्यं, एवं सत्युदासीनसमवधानस्याप्रयोजकत्वेन केवलस्यैव घटक्षणस्य विलक्षणक्षणान्तरोत्पादकत्वप्रसङ्गात् । किञ्चैवं विलक्षणसन्तत्युत्पादे प्राक्तनसन्तानोच्छेदे वा मुद्गरा-

ऋजुसूत्रनयनिरूपणे तदुत्थसौगतमतखण्डने विनाशनिर्हेतुकत्वतः क्षणिकत्वव्यवस्थापनस्य खण्डनम् ॥

देरन्वयस्य व्यतिरेकान्यथासिद्धेस्तद्व्यापारानन्तरमपि घटादेरनुपलब्धिर्न भवेत् । तदा तस्य न स्वरूपप्रच्युतिरुत्पद्यते किन्तु
तस्यैकक्षणावस्थायित्वेन तदाऽभवनमिति नोपालम्भ इति चेत्, न, यतः स्वरूपादप्रच्युतस्य नाभवनं नाम किञ्चित्,
अन्यथा तस्य सत्त्वान्तरमभ्युपगतं स्यात् । अथ स एव न भवति नतु तस्यापरसत्त्वं, ननु तदेवेदं पुनारूपाभवनमभिधी-
यते, तत्र च तदेवोत्तरं, तस्माद्विनाशहेतुव्यापारानन्तरं पदार्थस्यासद्व्यवहारं विदधता तद्व्यतिरिक्तानन्तरग्रहणमभ्युपग-
न्तव्यं, न तु तदग्रहणमात्रं, अन्यथा तस्याभावानिश्चयात्कल्पादिव्यवहितस्यापि सद्व्यवहारनिषेध एव स्यान्नासद्व्यवहार
प्रवृत्तिः । न चार्थान्तरनाशानभ्युपगमे शत्रुमित्रक्षयजन्यसुखदुःखाद्यनुभवोऽपि सङ्गच्छते, न चाभावस्य भवितृत्वे भावरूपता,
भवितृत्वाविशेषेऽपि घटपटयोरिव विलक्षणप्रत्ययविषयत्वेन भावाभावयोर्भेदसिद्धेः । अथ कपालोत्पत्तिकाले घटविनाशान-
भ्युपगमे स्वभावत एवाविनश्वरस्य घटस्य परतोऽपि नाशासम्भवात् कपालोत्पत्तिप्राक्क्षणपर्यन्तस्थायित्वस्वभावकल्पने तस्य
नाशकसन्निधावप्यनुवृत्तेः कौटस्थ्यप्रसङ्गात्तद्बाधे क्षणिकत्वमेव युक्तमिति चेत्, न, एकक्षणस्थायित्वस्वभावस्येवानेक-
क्षणस्थायित्वस्वभावस्यापि विवक्षितकालान्तरमनुवृत्त्यभ्युपगमे बाधकाभावात्, अन्यथैकैकक्षणस्थायित्वस्वभावानुवृत्त्यापि
परस्य कल्पान्तरस्थायितापत्तेर्वज्रलेपत्वात् । विनाशहेतुपक्षनिक्षिप्तश्च विकल्पो भावोत्पत्तावपि समानः, तथाहि उत्पत्तिहेतुः
स्वभावत एवोत्पित्सुं भावमुत्पादयति, उतानुत्पित्सुं, प्रथमे विफलता तद्धेतोः, द्वितीये तु वियत्कुसुमादेरप्युत्पादनप्रसङ्गः ।
स्वहेतुसन्निधेरेवोत्पित्सोरुत्पादनाभ्युपगमे विनाशहेतुसन्निधाने विनश्वरस्वभावं तद्धेतुर्विनाशयतीत्यपि तुल्यन्यायात्किं ना-
भ्युपगम्यते, स्वयमेव विनश्वरस्य विनाशहेतुकृतोपकाराभावेन तज्जन्यनाशव्यपदेशाभावो हि स्वयमेवोत्पित्सोरुत्पत्तिहेतु-

ऋजुसूत्रनयनिरूपणे तदुत्थसौगतमतखण्डने उत्पत्तिप्रतिबन्द्या विनाशस्य सहेतुकत्वव्यवस्थापनम् ॥

कृतोपकाराभावेन तज्जन्योत्पत्तिव्यदेशाभावतुल्ययोगक्षेमः। स्वकारणादुत्पत्तिरात्मलाभो यस्य स स्वोत्पत्तिधर्मा तं यदि स्वहेतुर्नोत्पादयेत्तदा विरुद्धमभिधानं स्यादित्यपि विनाशकारणाद्विनाश आत्मप्रच्युतिलक्षणो धर्मो यस्य तं यदि विनाशहेतुर्न विनाशयेत्तदा विरुद्धमभिधानमित्यनेन समानम्, येषां च न घटनिवृत्तिः कपालस्वरूपादन्या, तेषां कथं न कपालहेतुर्घटध्वंसहेतुर्भवेत्। अथ कथं कपाललक्षणस्य वस्त्वन्तरस्य प्रादुर्भावे घटो विनष्ट इति व्यपदिश्यते, मुद्गरादिहेतुसन्निधिमहिम्ना घटस्यैव कपालभावात्। कथं घटो विनष्टः स एवान्यथा भवतीति चेत्, नन्वसत् कथं भवतीति समानम्। अथ प्राग्घटादिकमसत्सद्भवत्युत्पत्तिसमय इत्यविरुद्धं, ननु प्राग्घटः सन् विनाशहेतुसन्निधौ कपालीभवतीत्यविरुद्धमेव। कथं तस्यैव तदन्यत्वमिति चेत्, यथा संवेदनस्य नीलाद्याकारभेदः तथा स्वरूपेणानेकमनेकं भवन्न विरोत्स्यते। इत्थं च निवृत्तिः कारणस्य कार्यात्मना परिणतिरेवाभिधीयते, तथा च घटप्रच्युतेः कपालस्वरूपत्वे कुतः क्षणिकत्वमिति संक्षेपः॥

अयं **चर्जुसूत्रनयः पर्यायनयतरोर्मूलं**, शब्दादीनामेतच्छाखारूपत्वात्, **तदुक्तं सम्मतौ**—"मूलनिमाणं पज्जव-णयस्स उज्जुसुअवयणविच्छेदो॥ तस्स उ सद्दाईया, साहपसाहा सुहुमभेया॥१–५॥" **अस्यार्थः—मूलनिर्माणं** मूलाधारः, **पर्यायनयस्य ऋजुसूत्रवचनविच्छेदो** लक्षणया प्रतिक्षणविवेचनेन विच्छिद्यमानवचनफलीभूतऋजुसूत्राख्यो नयबोधः, **तस्य** ऋजुसूत्रतरोः, **तु**रवधारणार्थः, तेन तस्यैव न द्रव्यार्थिकस्य, **शब्दादयः** शब्दप्राधान्येनार्थोपसर्जनत्वेन प्रतीतिजनकाः शब्दसमभिरूढैवम्भूताख्यास्त्रयो नयाः, **शाखाप्रशाखा** इव स्थूलसूक्ष्मतरदर्शित्वात् **सूक्ष्मो भेदो** येषां ते तथा, यथा हि तरोः

ऋजुसूत्रनयनिरूपणे तदुत्थसौगतमतखण्डनसमाप्तिः, ऋजुसूत्रस्य पर्यायनयतरुमूलत्वं। शब्दादिनयानां तच्छाखाप्रशाखारूप-

प्रतिशाखारूपा अशुद्धशुद्धशुद्धतराः शब्दसमभिरूढैवम्भूताख्यास्त्रयो नया द्रष्टव्याः ॥ तथा हि ऋजुसूत्राभ्युपगतं क्षणमात्रावस्थितिवस्तु लिङ्गादिभेदाद्भिन्नं शब्दो वृक्षाच्छाखामिव सूक्ष्ममभिमन्यते, समभिरूढः शब्दाभिमतं वस्तु सञ्ज्ञाभेदादपि भिद्यमानं शाखातः प्रशाखामिव सूक्ष्मतरमध्यवस्यति, तदेव समभिरूढाभिमतं वस्तु एवम्भूतः क्रियाभेदाद्भिन्नं प्रशाखातः प्रतिशाखामिव सूक्ष्मतममधिगच्छतीति ॥ एतच्च ऋजुसूत्रपदव्युत्पत्तिनिमित्तं प्रत्युत्पन्नग्राहित्वं पर्यायनयत्वमात्रपर्यवसन्नमभिप्रेत्य द्रष्टव्यम् ॥ यद्वा विशेषणभेदाप्रयुक्तऋजुसूत्रविषयप्रतियोगिकभेदानाधारप्रतीतिविषयकत्वमिह शब्दादीनामृजुसूत्रभेदत्वं परिभाष्यते, न ह्येवं व्यवहारस्य सङ्ग्रहभेदत्वं प्रसज्यते, विशेषणभेदाप्रयुक्तसामान्यलक्षणसङ्ग्रहविषयप्रतियोगिकभेदाधारविशेषविषयत्वात्तस्य । शब्दभिन्नत्वे सति प्रत्युत्पन्नग्राहित्वं लक्षणमभिप्रेत्य तु न शब्दादीनामृजुसूत्रभेदत्वं, अन्यथा नयविभाजकोपाधिव्याप्यविभाजकोपाधिमत्त्वेन नयप्रभेदत्वापत्तेः—" सत्त मूलणया पण्णत्ता " इति सूत्रव्याकोपप्रसङ्गात्, न चान्यथाऽपि नयविभाजकोपाधिरूपद्रव्यार्थिकत्वपर्यायार्थिकत्वव्याप्यसङ्ग्रहत्वऋजुसूत्रत्वादिकमादाय सङ्ग्रहर्जुसूत्रादीनां नयप्रभेदत्वं दुर्निवारं, द्रव्यार्थिकत्वपर्यायार्थिकत्वयोः प्रकृतविभागप्रयोजकविभाजकोपाधित्वाभावेन तददोषादिति स्मर्तव्यं, अत एव नव नया द्रव्यार्थिकः[१] पर्यायार्थिको[२] नैगमः[३] सङ्ग्रहो[४] व्यवहार[५] ऋजुसूत्रः[६] शब्दः[७] समभिरूढ[८] एवम्भूत[९]श्चेत्येकविभागकरणलम्पटदिक्पटकपटमपास्तमापभ्रांशिकप्रबन्धेऽस्माभिः। एवं हि द्रव्यार्थिकत्वपर्यायार्थिकत्वाभ्यां सामान्यतो नयविभागं कृत्वा सङ्ग्रहर्जुसूत्रादीनां द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकभेदानामेवानुपदमुपदर्शनेन विभक्तविभागः कृतः स्यात्, नत्वेकविभागः, सङ्ग्रहर्जुसूत्राद्यन्तर्भावशीलयोर्द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकयोः पृथग्विभागस्य कर्तुमशक्यत्वात्,

ऋजुसूत्रतरोःशाखाप्रशाखाप्रतिशाखारूपाःशब्दसमभिरूढैवम्भूताःनयस्यनवधाविभजनं दिक्पटस्य खण्डितम्॥

॥ ५४ ॥

अन्यथाऽर्पितानर्पितभेदद्वयाधिक्येनैकादशधापि किं न नयविभागो देवानांप्रियस्याभिमतः स्यात् ?, न च पञ्च नया इत्येक
आदेशः सप्तेत्यन्य इतिवत्सप्त नया इत्येकः आदेशो नवेत्यन्य इत्यस्मदभिप्रेतमिति साम्प्रतं, भिन्नविषयाणां शब्दादीनां
त्रयाणां शब्दत्वेनैक्यं स्वातन्त्र्यं चाभिप्रेत्य पञ्चसप्तादेशभेदद्वयसम्भवेऽपि प्रकृते विषयभेदाभावेन तदसम्भवात्, न च
सप्तधा नवधा च तत्त्वविभागवन्नयविभागोऽपि तथा नानुपपन्न इति वक्तुं युक्तं, तत्र केवलनिःश्रेयसोपयोग्यभ्युदयसंवलि-
ततदुपयोगिबोधलक्षणप्रयोजनभेदेन विभागद्वैविध्यसम्भवेऽपि प्रकृते प्रयोजनभेदाभावेनानुयोगद्वारस्थानाङ्गतत्त्वार्थमहा-
शास्त्राद्यभिहितं सप्तधानयविभागमुल्लङ्घ्य नवधा तत्करणस्य सूत्राशातनाकलङ्कितत्वादिति दिग् ॥ अयं च सर्वोऽपि ऋजु-
सूत्रवचनविस्तारो बाह्यार्थाभ्युपगमपरो द्रष्टव्यः। यद्वा ऋजु बाह्यापेक्षया ग्राहकसंवित्तिभेदविकलमविभागं बुद्धिस्वरूपमकु-
टिलं, सूत्रयतीति ऋजुसूत्रः शुद्धपयार्यास्तिको, यद्वा सर्वधर्मविरहशून्यतेत्यभ्युपगमपरः शुद्धतरपर्यायास्तिकावलम्बी ऋजु-
सूत्रो व्यवस्थितः, अथवा **सौत्रान्तिकवैभाषिकौ** बाह्यार्थमाश्रितौ यथाक्रममृजुसूत्रशब्दौ, **वैभाषिकेण** नित्यानित्य-
शब्दवाच्यस्य पुद्गलस्याभ्युपगमाच्छब्दनये तस्यानुप्रवेशः॥ बाह्यार्थप्रतिक्षेपेण विज्ञानमात्राभ्युपगमपरः समभिरूढो **योगा-
चारः**। एकानेकधर्मविकलतया विज्ञानमात्रस्याप्यभाव इत्येवमभ्युपगमपर एवम्भूतो **माध्यमिक** इति **सम्मतिवृत्तौ**
व्यवस्थितम्, तत्पूर्वपक्षसमाधानादिकमपि तत एवावसेयं, विस्तरभयान्नेह विलिख्यते, **नवीनतर्कस्पृहयालुभिश्चा-
त्रार्थे मत्कृतस्याद्वादकल्पलता परिशीलनीया** ॥ **ऋजुसूत्रनयविचारः सम्पूर्णः** ॥

**“ दर्शितेयं यथाशास्त्र–मृजुसूत्रनयस्य दिक् ॥ बौद्धसिद्धान्तहेतुः श्री–यशोविजयवाचकैः ॥ १ ॥ ”**

**ऋजुसूत्रनयप्रसङ्गे दिगम्बरकृतनयविभागनिरसनं, सम्मतिसंवादेन सौत्रान्तिकादीनां नयसमवतार ऋजुसूत्रोपसंहारश्च ॥**

श्री अनेकान्त-व्यवस्था-प्रकरणम् ॥
॥ ५५ ॥

'शप आक्रोशे' शपनमाह्वानमिति शब्दः, शपत्याह्वयतीति वा शब्दः, शप्यते वाऽऽहूयते वस्त्वनेनेति शब्दः। तस्य शब्दस्य यो वाच्योऽर्थस्तत्प्रधानत्वान्नयोऽपि शब्दः, उपचारात्, यथा कृतकत्वादित्यादिकः पञ्चम्यन्तशब्दोऽपि हेतुः। अर्थरूपं हि कृतकत्वमनित्यत्वगमकत्वान्मुख्यतया हेतुरुच्यते, उपचारात्तु तद्वाचकः शब्दः, तद्वदिहापि द्रष्टव्यं। उक्तं च महाभाष्यकृता। "सवणं सपइ स तेणं, व सप्पए वत्थु जं तओ सद्दो ॥ तस्सत्थपरिग्गहओ, नओ वि सद्दोत्ति हेउ व ॥२२२७॥" शब्दवाच्यार्थपरिग्रहप्राधान्यं ॥ "इच्छइ विसेसियतरं, पच्चुप्पन्नो नओ सद्दो"॥२१८४॥त्ति निर्युक्तिदलं, तत्र भाष्यं—" तं चिय रिउसुत्तमयं, पच्चुप्पन्नं विसेसिययरं सो ॥ इच्छइ भावघडं चिय, जं न उ नामादिए तिन्नि ॥ २२२८ ॥ " तदेव ऋजुसूत्रनयमतं ऋजुसूत्रनयाभ्युपगतं प्रत्युत्पन्नं वर्तमानं वस्त्विच्छत्यसौ शब्दनयः, कीदृशं विशेषिततरं, कुत इदं ज्ञायते, यद् यस्मात् पृथुबुध्नोदराद्याकारकलितं मृन्मयं जलाहरणादिक्रियाक्षमं प्रसिद्धघटरूपं भावघटमेवेच्छत्यसौ, न तु शेषान्नामस्थापनाद्रव्यरूपांस्त्रीन् घटानिति, शब्दार्थप्रधानो ह्येष नयः, शब्दार्थश्च प्रकृते 'घट चेष्टायाम्'इति धात्वर्थलक्षणो भावघट एव युज्यते, न नामादिष्विति निक्षेपचतुष्टयाभ्युपगमपरादृजुसूत्राद्विशेषिततरं वस्त्विच्छत्यसौ, एकस्यैव भावघटस्यानेनोपगमात् ॥ नामादिघटनिराकरणे प्रमाणमाह—" नामादओ न कुम्भा, तक्कज्जाकरणओ पडाइ व ॥ पच्चक्खविरोहाओ, तल्लिंगाभावओ वा वि ॥ २२२९ ॥ " नामस्थापनाद्रव्यरूपाः कुम्भा न भवन्ति, जलाहरणादितत्कार्याऽकरणात्, पटादिवत्, तथा प्रत्यक्षविरोधात् घटलिङ्गादर्शनाच्च, अघटरूपास्ते प्रत्यक्षेणैव दृश्यन्त इति प्रत्यक्षविरोधः, जलाहरणादिघटलिङ्गं च तेषु न दृश्यते ततोऽनुमानविरोधोऽपीति कथं ते नामादिघटा घटव्यपदेशभाजो भवेयुः ?। घटपदान्नामादि-

शब्दनयोपक्रमः, निक्षेपाभ्युपगमभेदेन ऋजुसूत्रादस्य महाभाष्यसंवादतो भेदप्रदर्शनञ्च ॥

॥ ५५ ॥

घटोपस्थितेरस्खलिताया दर्शनात्तत्र तत्पदशक्तेरव्याहतत्वात् स्वारसिकघटपदप्रयोगलक्षणो व्यपदेशस्तेषु न विरुध्यत इति चेत्, न, अन्तरङ्गप्रत्यासत्त्या घटभाव एव घटपदशक्तेरभ्युपगमात्, नामादिषु तत्पदप्रयोगस्यास्वारसिकत्वादिति दिग् ॥

ऋजुसूत्रशिक्षणार्थमाह—"जइ विगयाणुप्पन्ना, पओअणाभावओ न ते कुम्भा ॥ नामादओ किमिट्ठा, पओअणाभावओ कुम्भा ॥ २२३० ॥" यदि विगता अनुत्पन्नाश्च तव हे ऋजुसूत्र ! कुम्भा नेष्टाः, प्रयोजनाभावात्, तर्हि नामादयोऽपि कुम्भाः किमिष्टाः, प्रयोजनाभावस्य समानत्वात्, न खलु तैरपि कुम्भप्रयोजनं किमपि विधीयते, वासनाविशेषोत्थापितप्रतीत्यादिप्रयोजनं तु शशविषाणादेरिव न सत्त्वसाधकमिति भावः। तदेवमृजुसूत्राच्छब्दनयस्य विशेषिततरत्वमुक्तम् ॥

अथ प्रकारान्तरेण तदाह—"अहवा पच्चुप्पन्नो, रिउसुत्तस्साविसेसिओ चेव ॥ कुम्भो विसेसिययरो, सब्भावाईहिं सद्दस्स ॥ २२३१ ॥ सब्भावासब्भावो-भयप्पिओ स-परपज्जओ-भयओ ॥ कुम्भा-ऽकुम्भा-ऽवत्त-व्वोभयरूवाइभेओ सो ॥२२३२॥" अथवा प्रत्युत्पन्न ऋजुसूत्रस्याविशेषित एव सामान्येन कुम्भोऽभिप्रेतः, शब्दनयस्य तु स एव सद्भावादिभिर्विशेषिततरोऽभिमत इत्येवमनयोर्भेदः, तथाहि, स्वपर्यायैः परपर्यायैरुभयपर्यायैर्वाऽर्पितो विशेषितः, कुम्भाकुम्भाऽवक्तव्योभयरूपादिभेदो भवति-सप्तभङ्गीं प्रतिपद्यत इत्यर्थः, तद्यथा—ऊर्ध्वग्रीवाकपालकुक्षिबुध्नादिभिः स्वपर्यायैः सद्भावेनार्पितो विशेषितः कुम्भः कुम्भो भण्यते, 'सन् घट' इति प्रथमभङ्गो भवतीत्यर्थः ॥१॥ तथा पटादिगतैस्त्वक्त्राणादिभिः परपर्यायैरसद्भावेनार्पितो विशेषितोऽकुम्भो भवति, सर्वस्यापि घटस्य परपर्यायैरसत्त्वविवक्षायाम्, 'असन् घट' इति द्वितीयो भङ्गो भवतीत्यर्थः ॥२॥ तथा सर्वोऽपि घटः स्वपरोभयपर्यायैः सद्भावासद्भावाभ्यामर्पितः 'अवक्तव्यो' भवति, स्वपरपर्यायस-

शब्दनयस्य ऋजुसूत्राद्विशिष्टत्वे प्रथमप्रकारोपसंहारः, द्वितीयप्रकारे च सप्तभङ्ग्युपदर्शनम् ॥

त्त्वासत्त्वाभ्यामेकेन केनाप्यसाङ्केतिकेन शब्देन सर्वस्यापि तस्य युगपद्वक्तुमशक्यत्वात् इति तृतीयो भङ्गः ॥ ३ ॥ एते त्रयः सकलादेशाः । अथ चत्वारो विकलादेशाः प्रोच्यन्ते, तत्रैकस्मिन् देशे स्वपर्यायसत्त्वेनान्यत्र तु देशे परपर्यायाऽसत्त्वेन विवक्षितो घटः 'संश्चासंश्च' भवति, घटोऽघटश्च भवतीत्यर्थः इति चतुर्थो भङ्गः॥४॥ तथैकस्मिन् देशे स्वपर्यायैः सद्भावेनार्पितोऽन्यत्र तु देशे स्वपरोभयपर्यायैः सद्भावासद्भावाभ्यां युगपदसाङ्केतिकेनैकेन शब्देन वक्तुमिष्टः कुम्भः 'संश्चावक्तव्यश्च' भवति, घटोऽवक्तव्यश्च भवतीत्यर्थः, देशे तस्य घटत्वाद्देशे चाऽवक्तव्यत्वात् इति पञ्चमो भङ्गः ॥५॥ तथैकदेशे परपर्यायैरसद्भावेनार्पितोऽन्यस्मिंस्तु देशे स्वपरपर्यायैः सद्भावासद्भावाभ्यां युगपदसाङ्केतिकेनैकेन शब्देन वक्तुमिष्टः कुम्भः 'असंश्चाऽवक्तव्यश्च' भवति, अघटोऽवक्तव्यश्च भवतीत्यर्थः, देशे तस्याघटत्वाद्देशे चावक्तव्यत्यात् इति षष्ठो भङ्गः॥६॥ तथैकस्मिन् देशे स्वपर्यायैः सद्भावेनान्यस्मिंस्तु परपर्यायैरसद्भावेनान्यस्मिंस्तु स्वपरोभयपर्यायैः सद्भावासद्भावाभ्यां युगपदेकेनाऽसाङ्केतिकेन शब्देन वक्तुमिष्टः कुम्भः'संश्चासंश्चावक्तव्यश्च' भवति,घटोऽघटोऽवक्तव्यश्च भवतीत्यर्थः इति सप्तमो भङ्गः॥७ इह च कुम्भाकुम्भेत्यादिना गाथार्धेन षड् भङ्गाः साक्षादुपात्ताः, सप्तमस्त्वादिशब्दात्, तद्यथा—कुम्भः१, अकुम्भः२, अवक्तव्यः३, उभयत्ति संश्चासंश्चेत्युभयं४, सन्नवक्तव्य इत्युभयं५, तथाऽसन्नवक्तव्य इत्युभयं६, आदिशब्दसङ्गृहीतस्तु सप्तमः सन्नऽसन्नवक्तव्य इति ७॥ अत्रोभयपदस्य समभिव्याहृतपदार्थैकत्वेद्वयप्रकारकबुद्धिविषये शक्तावपि समभिव्याहारत्रैविध्यात्त्रिरावृत्त्या त्रिविधोभयबोध इति न्यायमार्गः ॥ तदेवं स्याद्वाददृष्टं सप्तभेदं घटादिकमर्थं यथाविवक्षमेकेन केनापि भङ्गकेन विशेषिततरमसौ शब्दनयः प्रतिपद्यते, पर्यायनयत्वादृजुसूत्राद्विशेषिततरवस्तुग्राहित्वाच्च । स्याद्वादिनस्तु

शब्दनयस्य ऋजुसूत्राद्विशिष्टत्वं द्वितीयप्रकारद्वारा सप्तभङ्ग्युपदर्शनञ्च ॥

सम्पूर्णसप्तभङ्ग्यात्मकमपि प्रतिपद्यन्त इति विशेषावश्यकवृत्तावुक्तम्॥ तत्रेदं विचार्यते, ननु किमियं सप्तभङ्गी–अर्थनयाश्रिता उत शब्दनयाश्रिता, आद्ये तदेकतरभङ्गविशेषणेन कथमृजुसूत्राच्छब्दस्य विशेषिततरत्वं, अर्थनयाश्रितभङ्गस्य शब्दनयाविशेषत्वात्, उभयेषां विषयविभागस्य दूरान्तरत्वात्, तथाहि, एतदर्थनयमतं, यद्यपि शब्दार्थौ सामान्येन स्तः, तथाऽपि तदाकारानुविधायिनी तदध्यवसायेन तत्राविसंवादात्संवित्प्रमाणत्वेन गीयते, प्रमाणे स्वाकारार्पकश्चार्थ एव, साक्षात्परम्परया वा नियतान्वयव्यतिरेकशालित्वात्, न तु शब्दोऽतथात्वादिति तस्य न प्रमेयत्वं, न चाध्यक्षसंविदि कदापि शब्दसंसृष्टोऽर्थः प्रतिभासते, तथाऽननुभवात्, यदि च वस्तुसन्निधावपि तन्नामानुस्मृतिं विनार्थस्यानुपलब्धिरिष्यते, तदार्थसन्निधेरभिधानस्य स्मृतावेवोपक्षीणशक्तिकत्वात्कदापीन्द्रियबुद्धिजनकत्वं न स्यात्, यदि च स्वाभिधानविशेषणापेक्षमेव चक्षुरादिप्रतिपत्तिः स्वार्थमवगमयतीति परस्य निर्बन्धः, तदाऽस्तङ्गतेयमिन्द्रियप्रभवार्थाधिगतिः, तन्नामस्मृत्यादेरसम्भवात्, तथाहि, यत्रार्थे प्राक्शब्दप्रतिपत्तिरभूत्पुनस्तदर्थवीक्षणे तत्सङ्केतितशब्दस्मृतिर्भवेदिति वक्तुं युक्तं, अन्यथातिप्रसङ्गात्, न चानभिलापार्थाप्रतिपत्तौ पूर्वप्रतिपन्नमभिलापमपि स्मरेत्, अर्थदर्शनरूपसंस्कारोद्बोधकाभावात्, अस्मरंश्च शब्दविशेषं न वाच्यवाचकभावसम्बन्धेनार्थे योजयेत्, अयोजयंश्च न तेन विशिष्टमर्थमवगच्छेदित्यायातमान्ध्यमशेषस्य जगतः, तस्मात्स्वाभिधानस्मृतिनिरपेक्षस्यार्थस्य स्वत एव चक्षुरादिप्रत्ययं प्रत्युपयोगित्वमेष्टव्यमित्यर्थ एव तत्त्वमिति। शब्दनयास्तु सङ्गिरन्ते कारणस्यापि विषयस्यावगाहनेनोपलम्भमाना प्रतिपत्तिर्न तावत्प्रमाणं यावदध्यवसायो न भवेत्, स चाध्यवसायो विकल्पात्मा तदभिधानस्मृतिं विना नोत्पद्यत इति सर्वव्यवहारेषु शब्दसम्बन्धः प्रधाननिबन्धनं, प्रत्यक्षस्यापि तज्जन्माध्यवसायविकल्पविक-

शब्दनयप्रसङ्गेन सप्तभङ्ग्या अर्थशब्दनयाश्रितत्वं विकल्प्य तत्त्वनिरूपणम् ॥

लस्य बहिरन्तर्वा प्रतिक्षणपरिणामप्रतिपत्ताविव प्रमाणतानुपपत्तेः, अविसंवादलक्षणत्वात्प्रमाणानां, प्रतिक्षणपरिणामांशेऽप्यध्यक्षप्रामाण्याभ्युपगमे च प्रमाणान्तरदर्शने यत्नान्तरकरणं ग्रान्थिकानामपार्थकं स्यात्, ततः प्रमाणव्यवस्थानिबन्धनं तन्नामस्मृतिव्यवसाययोजनमर्थप्राधान्यमपहस्तयतीति शब्द एव सर्वत्र प्रमाणादिव्यवहारे प्रधानं कारणमिति ॥ द्वितीयविकल्पे च ऋजुसूत्राभिमतार्थपर्यायाविषयत्वेनाशुद्धव्यञ्जनपर्यायग्राहिणः कुतः शब्दस्य तस्माद्विशेषिततरार्थत्वं, न हि तदविषयविषयकत्वं विशेषिततरशब्दार्थः, किन्तु शुद्धतरतद्विषयविषयकत्वमिति ॥ न च ऋजुसूत्राभिमतं सत्त्वमुपमृद्यासत्त्वाख्यद्वितीयभङ्गार्थोपग्रहाच्छब्दस्यर्जुसूत्राद्विशेषिततरत्वं वक्तुं युक्तम्, इत्थं ऋजुसूत्राभिमतं सत्त्वमुपमृद्यासत्त्वग्रहणव्यापृतस्य व्यवहारस्यापि ततो विशेषिततरार्थत्वापत्तेर्विशेषकभङ्गानिर्धारकवचनानुपपत्तेश्चेति चेत्, अत्रेदमाभाति यद्यपि सम्मतौ—
“ एवं सत्तविअप्पो, वयणपहो होइ अत्थपज्जाए ॥ वंजणपज्जाओ पुण, सवियप्पो णिव्वियप्पो य ॥१–४१॥ ”त्ति गाथयाऽर्थपर्यायाश्रिता सप्तभङ्गी सङ्ग्रहव्यवहारर्जुसूत्रैर्व्यञ्जनपर्यायाश्रिता च शब्दसमभिरूढैवम्भूतैः सूचिता, तथाप्येतत्प्रकारद्वयाभिधानमर्थव्यञ्जनसाधारणपर्यायसामान्याश्रितसप्तभङ्ग्या अप्युपलक्षणं, सा च स्वपरपर्यायाणां क्रमयुगपद्विवक्षावशान्नयद्वयेनाऽशुद्धशुद्धशुद्धतरपर्यायविवक्षया च नयत्रयेणापि सम्भवतीति ऋजुसूत्रशब्दप्रयुक्तसप्तभङ्ग्या द्वितीयादिना व्यवहारर्जुसूत्रशब्दप्रयुक्तायां च तस्यां तृतीयादिना भङ्गेनर्जुसूत्राच्छब्दस्य विशेषिततरार्थत्वं युक्तं, न चैवं ऋजुसूत्रकृतसत्तापेक्षयाऽसत्ताग्राहिणो व्यवहारस्यापि ततो विशेषिततरार्थत्वप्रसङ्गदूषणानुद्धारः, सम्प्रदायाविरुद्धभङ्गविषयीभूतेनार्थेन विशेषिततरत्वस्याभिधित्सितत्वात्, सम्प्रदायश्चोत्तरोत्तरभङ्गप्रवृत्तावुत्तरोत्तरनयावलम्बनेनैव दृष्टो नान्यथेति न कश्चिद्दोष इति विभावनीयं सुधीभिः॥

शब्दनयप्रसङ्गे सप्तभङ्ग्या अर्थ—शब्दनयाश्रितत्वनिष्टङ्कनं, शब्दनयस्य-दर्शितप्रकारे विशेषिततरत्वोपसंहारश्च ॥

अथवा लिङ्गवचने समाश्रित्य विशेषिततरं वस्त्विच्छति शब्दनय इति दर्शयन्नाह भाष्यकृत्--" वत्थुमविसेसओ वा,
जं भिन्नाभिन्नलिङ्गवयणंपि ॥ इच्छइ रिउसुत्तनओ,विसेसियतरं तयं ( नयो ) सद्दो ॥२२३३॥" व्याख्या--वा इत्यथवा,
भिन्नाभिन्नलिङ्गवचनमप्यविशेषतो यद्वस्त्विच्छति ऋजुसूत्रनयस्तद्विशेषिततरमिच्छति शब्दनयः ॥ कुत
इत्याह--" धणिभेयाओ भेओ, त्थी-पुंलिङ्गाभिहाणवच्चाणं ॥ पडकुंभाणं व जओ, तेणाभिन्नत्थमिट्ठं तं ॥२२३४॥" यतो
यस्मात्कारणात् स्त्रीपुंनपुंसकलिङ्गाभिधानवाच्यानामर्थानां तटादीनां भेद एव, न पुनरेकत्वं, तटीत्यभिधानस्य
भिन्नोऽर्थो वाच्यः, तट इत्यभिधानस्य त्वन्यः, तटमित्यभिधानस्य चापरः, कुतः?, ध्वनिभेदात्, तथा, गुरुर्गुरव इत्याद्ये-
कवचनबहुवचनादिवाच्यानामर्थानां ध्वनिभेदादेव भेदः। केषामिव? इत्याह पटकुम्भादिध्वनिभेदात्पटकुम्भाद्यर्थानामिव।
तेन तस्मात्कारणात्, तल्लिङ्गं वचनं वाऽभिन्नार्थमेवेष्टं यादृशो ध्वनिस्तादृश एवार्थो द्रष्टव्य(ऽस्येष्ट) इत्यर्थः। अन्यलिङ्ग-
वृत्तेस्तु शब्दस्य नान्यलिङ्गवाच्यमिच्छत्यसौ, नाप्यन्यवचनवृत्तेः शब्दस्यान्यवचनवाच्यं वस्त्वभिधेयमिच्छत्येप इति भावः ॥
उक्तमेवार्थमुपसंहृत्य दर्शयति--" तो भावो च्चिय वत्थुं, विसेसियमभिन्नलिं-गवयणं व ॥ बहुपज्जायं पि मयं, सद्दत्थवसेण
सद्दस्स ॥ २२३५ ॥ " ततस्तस्मात्कारणान्नामादिनिक्षेपेषु भाव एव वस्त्वित्यसाविच्छति, तदपि प्रागुक्तरीत्या सद्भा-
वादिभिर्विशेषितं अभिन्नलिङ्गवचनं चाभ्युपैति, स्ववाचकध्वनिनाऽ(नीनाम)भिन्ने लिङ्गवचने यस्य समानाधिकरण-
ध्वनेरर्थाद्यचा वाच्यवाचकभावसम्बन्धेन तन्निरूपिततादात्म्येन वा तद्वदित्यर्थः। समभिरूढेन सहास्य मतभेदं दर्शयति-
बहुपर्यायमपि इन्द्रः शक्रः पुरन्दर इत्यादिनानापर्यायवाच्यमप्येकमिन्द्रादिकं वस्तु शब्दस्येन्द्रादेरिन्दनादिको योऽर्थ-

शब्दनय-
स्य पुनः
प्रकारान्तरे-
ण ऋजुसू-
त्राद्विशिष्ट-
त्वं व्यव-
स्थाप्य स-
मभिरूढेण
सह भेदो-
पक्रमश्च ॥

स्तद्वशेन शब्दनयस्य मतमभिप्रेतं, इन्दनशकनपूर्दारणादीनामर्थानामेकस्मिन्निन्द्रादिके वस्तुनि समावेशसम्भवात्, समभिरूढस्तु नैवं मन्यत इति स्फुटीभविष्यतीत्ययमनयोर्भेदः । अत्राभिन्नलिङ्गवचनमिति यदुक्तं तदभिन्नकारकाद्युपलक्षणं, कारकादिभेदेनाप्यनेकार्थभेदाभ्युपगमात्, तथाहि–यथा ऋजुसूत्रनयमत एव 'अग्निष्टोमयाजी पुत्रोऽस्य जनिता' इत्ययुक्तम्, अतीतानागतयोः सम्बन्धाभावात्, तथा शब्दनयमतेऽन्यकारकयुक्तं यत्तदेवापरकारकसम्बन्धं नानुभवतीत्यधिकरणं चेद्, ग्रामोऽधिकरणाभिधानविभक्तिवाच्य एव न कर्माभिधानविभक्त्यभिधेय इति 'ग्राममधिशेते' इति प्रयोगोऽनुपपन्नः, तथा पुरुषभेदेऽपि नैकं वस्त्विति 'एहि मन्ये रथेन यास्यसि न हि यास्यसि यातस्ते पिता' इति च प्रयोगो न युक्तः, अपि तु 'एहि मन्यसे यथाहं रथेन यास्यामि' इत्येवं परभावेनैतन्निर्देष्टव्यं । एवमुपग्रहणभेदेऽपि विरमतीत्यादिर्न युक्तः, आत्मार्थतया हि विरमत इत्यस्यैव प्रयोगस्य सङ्गतेः, न चैवं लोकशास्त्रविलोपः, सर्वत्रैव नयमते तद्विलोपस्य समानत्वादिति **सम्मतिवृत्तौ** व्यवस्थितम् । वस्तुतो 'ग्राममधिशेते' इत्यादौ ग्रामोत्तरद्वितीयादिपदादधिकरणत्वादिप्रकारकप्रतीत्यर्थमधिकरणत्वादिविशिष्टे लक्षणैव स्वीकार्या, तन्निरूढत्वज्ञापनार्थमेव विशेषानुशासनमिति न कोऽपि दोषः । एतेन " विरोधिलिङ्गसंख्यादि–भेदाद्भिन्नस्वभावताम् ॥ तस्यैव मन्यमानोऽयं, शब्दः प्रत्यवतिष्ठते ॥ १ ॥ " इत्यत्र लिङ्गसंख्यादिशब्दार्थो व्याख्यातः ॥ इति शब्दनयः ॥ एकामेव संज्ञां समभिरोहतीति **समभिरूढः**, आह च भाष्यकृत्—

" जं जं सण्णं भासइ, तं तं चिय समभिरोहए जम्हा ॥ सण्णंतरत्थविमुहो, तओ णओ समभिरूढत्ति ॥ २२३६ ॥ "

यां यां संज्ञां घट इत्यादिरूपां भाषते तां तामेव यस्मात्संज्ञान्तरार्थविमुखः कुटकुम्भादिशब्दवाच्यार्थनिरपेक्षः

शब्दनयस्य समभिरूढनयाद्भेदनिरूपणम्, कारकादिभेदादपि भेदोपदर्शनं समभिरूढनयोपक्रमश्च ॥

समभिरोहति तत्तद्वाच्यार्थविषयत्वेन प्रमाणीकरोति, ततस्तस्मान्नानार्थसमभिरोहणात्समभिरूढो नयः, यो घटशब्द-वाच्योऽर्थस्तं कुटकुम्भादिपर्यायशब्दवाच्यं नेच्छत्यसावित्यर्थः ॥ "वत्थूओ सङ्कमणं होइ, अवत्थू नए समभिरूढे॥२१८५॥" इति निर्युक्तिदलं, एतद्व्याख्यासुराह भाष्यकृत्—"दव्वं पज्जाओ वा, वत्थुं वयणंतराभिधेयं जं ॥ न तदन्नवत्थुभावं, सङ्कमए सङ्करो मा भू ॥२२३७॥ ण हि सद्दंतरवच्चं, वत्थुं सद्दंतरत्थतामेइ ॥ संसय-विवज्ज-एगत्त, सङ्कराइप्पसङ्गाओ ॥२२३८॥" द्रव्यं कुटादि, पर्यायस्तु तद्गतो वर्णादिस्तल्लक्षणं यत्कुटादिवचनान्तराभिधेयं वस्तु न तदन्यवस्तुभावं घटशब्दाभिधेयं वस्तुभावं सङ्क्रामति, कुत इत्याह, वस्तुनो वस्त्वन्तरसङ्क्रामे माभूत्सङ्करादिदोष इति ॥ एतदेव भावयति, न हि शब्दान्तरवाच्यं वस्तु शब्दान्तरवाच्यार्थतामेति, संशयविपर्ययैकत्वसङ्करातिप्रसङ्गेभ्यः ॥ तथाहि ॥ घटादौ पटाद्यर्थसङ्क्रमे किमयं घटः पटादिर्वेति संशयः स्याद्, विपर्ययो वा घटादावपि पटादिनिश्चयात्, पटादौ वा घटाद्यध्यवसा-...ैकत्वं वा घटपटाद्यर्थानां प्राप्नुयात्, सङ्करः सङ्कीर्णरूपता वा मेचकमणिवत्, अतिप्रसङ्गो वा पटाद्यर्थिनो घटादौ प्रवृत्तिलक्षणः स्यात् ॥ एवं 'घट चेष्टायां' घटनाद् घटः, 'कुट कौटिल्ये' कुटनात्कुटः, तथा 'उभ-उम्भ पूरणे' कूम्भनात् कुस्थितिपूरणात् कुम्भ इति, भिन्नाः सर्वेऽपि घटकुटादिपदार्थाः । ततश्च घटाद्यर्थे कुटादिशब्दप्रयोगे वस्तुनो वस्त्वन्तरसङ्क्रान्तौ संशयादिदोषोपनिपात इति ॥ घटकुटादिपदार्थानामभेदे बाधकप्रमाणमुक्त्वा भेदसाधकप्रमाणमाह—

" घडकुडसद्दत्थाणं, जुत्तो भेओऽभिहाणभेआओ ॥ घडपडसद्दत्थाण व, तओ न पज्जायवयणं ति ॥ २२३९ ॥ "

...र्थानां भेद एव परस्परं युक्त इति प्रतिज्ञा, अभिधानभेदाद्वाचकध्वनिभे-

पर्यायभेदेनाप्यर्थभिन्नताभिप्रायस्यसमभिरूढनयस्यपर्यायभेदादर्थभेदाभेदोपपादनम् ॥

दादिति हेतुः, घटपटस्तम्भादिशब्दवाच्यानामिवार्थानामिति दृष्टान्तः, इत्थं चैतदभिप्रायेण घटादिपदस्य कुटकुम्भ-कलशादिकं पर्यायवचनं नास्त्येवैकत्रानेकशब्दप्रवृत्त्यनभ्युपगमादिति भावः ॥ शब्दनयशिक्षणार्थमाह—"धणिभेयाओ भेओ-ऽणुमओ जइ लिङ्गवयणभिन्नाणं ॥ घडपडवच्चाणं पि व, घडकुडवच्चाण किमणिट्ठो ॥२२४०॥" हन्त ! यदि लिङ्गव-चनभिन्नानां घटपटस्तम्भादिवाच्यानामिवार्थानां ध्वनिभेदाद् भेदस्तवानुमतः, तर्हि घटकुटकुम्भकलशादि-शब्दवाच्यानामर्थानां किमिति भेदो नेष्टः, ध्वनिभेदस्यात्रापि समानत्वात् । किञ्च विभिन्नलिङ्गवचनादिशब्दवाच्यत्व-मर्थभेदे न प्रयोजकं, गौरवात्, किन्तु विभिन्नशब्दवाच्यत्वं, लाघवात् । न च नानार्थैकशब्दवाच्यानामप्यर्थानां यथा नाभेदस्तथा भिन्नशब्दवाच्यानामपि न भेदो भविष्यतीत्याशङ्कनीयं, यतो विभिन्नशब्दवाच्यत्वस्यार्थभेदप्रयोजकत्वं न तद्व्यापकत्वं, येन नानार्थस्थले 'व्यापकाभावाद् व्याप्याभाव' आपादयितुं शक्येत, किन्तु तद्व्याप्यत्वं, न च 'व्याप्या-भावाद् व्यापकाभाव' आपादयितुं शक्यते, तप्तायोगोलके व्यभिचारात्, तस्मान्नानार्थस्थले शब्दभेदाद्भेदाभावेऽपि लक्षण-स्वरूपादिभेदाद्भेदोऽव्याहतः, न ह्यर्थभेदे एकमेव प्रतिनियतं प्रयोजकं, भिन्नशब्दवाच्यतया तु भिन्नकालवृत्तितयेवार्थभेदो ध्रुव इति बलादस्मत्पथवर्तित्वं भवतोऽप्यापतितम् ॥ वसतिप्रस्थकादिविचारेऽप्यस्य पूर्वनयेभ्यो भेद इति दर्शयन्नाह—"आगासे वसइत्ति य, भणिए भणइ किह अन्नमन्नम्मि ॥ मोत्तूणायसहावं, वसेज्ज वत्थुं विहम्ममम्मि ॥२२४१॥ वत्थुं वसइ सहावे, सत्ताओ चेयणा व जीवंमि ॥ न विलक्खणत्तणाओ, भिन्ने छायातवे चेव ॥ २२४२ ॥" क्वासौ साध्वादिर्वसतीति पृष्टे लोकग्रामनगरवसत्यादौ वसतीति नैगमादिनयवादिनो वदन्ति । ऋजुसूत्रनयवादी तु वदति यत्रावगाढस्तत्रा-

समभिरूढनयस्य शब्दनयाद्विशिष्टत्वप्रदर्शनं, वसत्यादिदृष्टान्ततोऽपि पूर्वनयेभ्यो भेदोपदर्शनञ्च ॥

काशखण्डे वसति, ततश्च ऋजुसूत्रेणैवं भणिते भणति समभिरूढो नन्वात्मस्वभावं मुक्त्वा कथमन्यद्वस्त्वन्यस्मिन् विधर्मके आत्मविलक्षणे वसेत्, न कथञ्चित्, सम्बन्धाभावादसम्बद्धस्य चाधारत्वानुपपत्तेरित्यर्थः ॥ तर्हि क्व वसतीत्याह—सर्वमेव वस्त्वात्मस्वभावे वसति, सत्त्वात्, जीवे चेतनावद् । भिन्ने त्वात्मविलक्षणस्वरूपे वस्तुनि न वसति यथा छायाऽऽतपे । यद्यप्येष त्रयाणामपि शब्दनयानामविशेषेणाभिप्रायः सूत्रे व्यावर्णितस्तथा च सङ्गृह्याऽभ्यधीष्महि—" णेगमववहाराणं, वसही लोयाइणिलयकोणंता ॥ संथारगाववगाहग–णहप्पएसायगा तिण्हं ॥१॥ " तिण्हंति क्रमेण सङ्ग्रहर्जुसूत्रशब्दाख्यानां त्रयाणां नयानामित्यर्थः । तथापि शब्दसमभिरूढैवम्भूतेषु ज्ञानात्मप्रदेशतदाकारज्ञाननिराकारज्ञानसामान्यभेदादात्मस्वभावभेदेन यदि विशेष उच्यते तदैवैतद्विषये मिथो विशेषो घटेतेति सूक्ष्ममीक्षणीयम् । अभेदे कथमाधाराधेयभावः, भेद एव कुण्डबदरादीनां तद्दर्शनादिति तु न शङ्कनीयं, अभेदेऽपि घटाभावे घटो नास्तीत्याद्याधाराधेयभावोल्लेखिप्रतीतिदर्शनात्, भेदे तत्प्रयोगस्तूपचारात्समर्थनीय इति दिक् ॥ प्रस्थकविचारमधिकृत्याह—" माणं पमाणमिट्ठं, नाणसहावो स जीवओऽणन्नो ॥ किह पत्थयाइभावं, वएज्ज मुत्ताइरूवं सो ॥ २२४३ ॥ ण हि पत्थाइपमाणं, घडोवब्भुविचेयणाइविरहाओ ॥ केवलमिव तण्णाणं, पमाणमिट्ठं परिच्छेओ ॥ २२४४॥ " इह यन्मानं तत्प्रमाणमेवेष्टं, प्रमीयते परिच्छिद्यते वस्त्वनेनेति कृत्वा, प्रमाणं च परिच्छेदात्मकं जीवस्वभाव एव, स च जीवादनन्य इति कथं मूर्त्तादिस्वभावमादिशब्दादचेतनस्वभावं प्रस्थकादिस्वभावं व्रजेदसौ, येन नैगमादयः काष्ठमयं प्रस्थकादिकं मानमिच्छन्तः शोभेरन्निति ॥ तर्हि शब्दनयानां किं प्रमाणं प्रस्थकादि किंवा न प्रमाणमित्याह—न हि नैव काष्ठघटितं प्रस्थकादि प्र-

समभिरूढनयविचारे वसत्यादिदृष्टान्तनिष्कर्षः ॥

माणं, चेतनादिरहितत्वात्, घटपटलोष्ठादिवत्, किन्तु तस्य प्रस्थकस्य ज्ञानं तदुपयोगस्तत्परिच्छेदः प्रमाणं ज्ञानमिष्टं, तेनैव तत्त्वतः प्रमीयमाणत्वात्। परिच्छेया इति पाठान्तरं वा तेनैव परिच्छेदात्, केवलज्ञानवत्, तस्मात्प्रस्थकज्ञानमेव प्रस्थक इति स्थितम्॥ अत्र परमतमाशङ्क्य परिहरन्नाह—"पत्थादओवि तक्कारणंति, माणं मई न तं तेसु॥ जमसंतेसु वि बुद्धी, कासइ संतेसु वि न बुद्धी ॥२२४५॥ तक्कारणं ति वा जइ, पमाणमिट्ठं तओ पमेयं वि ॥ सव्वं पमाणमेवं, किमप्पमाणं पमाणं वा ॥ २२४६ ॥" प्रस्थादयोपि मानमिति प्रतिज्ञा, तत्कारणत्वात् प्रस्थकज्ञानकारणत्वात्, यथा नड्वलोदकं पादरोग इत्यादि, इत्येवम्भूता परस्य मतिः स्यात्, तदेतन्न, यतस्तेषु प्रस्थकादिष्वसत्स्वपि कस्यापि धान्यराश्यवलोकनमात्रेणापि कलनशक्तिसम्पन्नस्याऽतिशयज्ञानिनो वा प्रस्थकपरिच्छेदबुद्धिरुपजायते, कस्यापि पुनर्नालिकेरद्वीपाद्यायातस्य सत्स्वपि तेषु प्रस्थकपरिच्छेदबुद्धिर्न सम्पद्यते इत्यनेकान्तिका एव काष्ठमयप्रस्थकादयः प्रस्थकज्ञानजनने, इति कथं तत्कारणत्वात्ते प्रस्थकादिमानरूपा भवेयुः ?। यदि वा प्रस्थकज्ञानकारणतामात्रेणापि काष्ठमयप्रस्थकादयः प्रमाणज्ञानकारणत्वात् प्रमाणमिष्टास्तदा दधिभक्षणादीनामपि परम्परया तत्कारणानां प्रमाणत्वं स्यादिति प्रमेयप्रमाणसाङ्कर्याद्विशीर्णा प्रमाणाप्रमाणव्यवस्था। एतेन 'प्रस्थकत्वप्रकारकालौकिकधान्यचाक्षुषे स्वावच्छिन्नचक्षुःसंयोगसम्बन्धेन प्रस्थकस्य हेतुत्वमिति' नव्यतर्कोऽप्यपास्तः, अनेनाऽपि प्रकारेण प्रस्थकस्य प्रमाणत्वे प्रमाणप्रमेयसाङ्कर्यदोषानुद्धारात्, ज्ञाने प्रस्थकत्वप्रकारकत्वस्य प्रस्थकाकारत्वपर्यवसन्नत्वेन तद्भिन्नप्रस्थके प्रमाणाभावश्च, प्रस्थकज्ञानात्पूर्वं हि न प्रस्थकसिद्धिः, तद्ज्ञानकाले च तदेव प्रस्थकाकारत्वेनानुभूयत इति किमपरमप्रामाणिकं बाह्यं प्रस्थकादीति। यद्यप्यत्रापि

शब्दादीनां त्रयाणां नयानां मते न प्रस्थकतत्त्वोपवर्णनं तत्र चपराशङ्कापरिहारश्च ॥

प्रस्थकज्ञानमेव प्रस्थकप्रमाणमिति त्रयाणामपि शब्दनयानामविशिष्टमेव मतं गीयते, तथापि बाह्यप्रस्थकार्पितस्वाभाविकसत्यप्रस्थकाकारोपप्लवोपस्थापितामत्यप्रस्थकाकारग्राह्यग्राहकताविनिर्मुक्तमध्यमसंवित्स्वरूपज्ञानभेदेनैषां विषयभेदः सूक्ष्ममीक्षणीयः । तथा पञ्चानां धर्माधर्माकाशजीवपुद्गलास्तिकायानां देशप्रदेशकल्पनायामप्यस्य नयस्य मते षष्ठीसमासादि नेष्टं, किं तर्हि देशी चासौ देशश्चेत्यादिकर्मधारय एवेति सयुक्तिकमाह—" देसी चेव य देसो, णो वत्थुं वा न वत्थुणो भिन्नो ॥ भिन्नो व न तस्स तओ, तस्स व जइ तो न सो भिन्नो ॥ २२४७ ॥ एत्तो चेव समाणा-हिगरणया जुज्जए पयाणं पि ॥ नीलुप्पलाइयाणं, न रायपुरिसाइसंसग्गो ॥२२४८॥" व्याख्या—धर्मास्तिकायादिको देश्येव हि देशो न पुनस्तस्माद् घटादिवाघरट्टोऽत्यन्तभिन्नं स्वतन्त्रं वस्तु देशः । अथ न स्वतन्त्रं वस्तु देशः, किन्तु तत्सम्बन्धित्वादस्वतन्त्रोऽपि देशिनो भिन्नो देश इति चेत्, तत्राह—न च (वा) देशिलक्षणाद्वस्तुनो भिन्नोऽसौ देशः, अथ भिन्नस्तस्मादिष्यतेऽसौ, तर्हि, अन्यस्याऽन्येन विन्ध्येन हिमवदादेरिव सम्बन्धायोगान्न तस्य देशिनस्तकोऽसौ देशः, यदि पुनस्तस्य देशिनः सम्बन्धी देशोऽभ्युपगम्यते तर्हि घटादेः स्वस्वरूपवन्न स देशस्तस्माद्देशिनो भिन्नः, किन्तु तदात्मक एवेति ॥ अत एव विशेषणविशेष्यभूतानां सर्वेषामपि पदानां समानाधिकरणता कर्मधारय एव समासो युज्यत इत्यर्थः, यथा नीलोत्पलादीनां, उपलक्षणं चेदं धवखदिरपलाशा इत्यादिर्द्वन्द्वोऽप्येतन्मतेनानुपपन्नः, ' परस्परानन्वितनानापदार्थकसमासत्वस्यैव ' द्वन्द्वलक्षणत्वात्, अभेदेनान्वयस्य भेदेनान्वयस्य च तुल्ययोगक्षेमत्वात्, न तु राज्ञः पुरुषो राजपुरुष इति षष्ठ्यादिसमासः एतन्मते युज्यते, यतो [illegible] सम्बन्धो न घटते. तथाहि, सम्बद्धवस्तुद्वयात्सम्बन्धो भिन्नोऽभिन्नो वा, यदि भिन्नः, तर्हि

शब्दादिनयत्रिकमते प्रस्थकज्ञानस्य प्रस्थकप्रमाणतां निर्णीय शब्दनयस्यमतेन धर्मास्तिकायादिभिर्देशप्रदेशयोः समासनिर्णयश्च ॥

सम्बद्धवस्तुद्वयाद्भिन्नं तृतीयमेव वस्तु तत्स्यात्, न तु सम्बन्ध इति कथं तद्वशात्षष्ठ्यादिविभक्तिः, न हि विन्ध्यहिमवदादिभ्यो भिन्नो घटादिस्तत्सम्बन्धो भण्यते, नापि तद्वशात्तेषां षष्ठ्यादिविभक्तिः प्रवर्तते, अथ सम्बद्धवस्तुद्वयादऽभिन्नः सम्बन्धः, तर्हि नासौ षष्ठ्यादिप्रयोगहेतुः, सम्बद्धवस्तुद्वयादव्यतिरिक्तत्वात्, तत्स्वरूपवत्। ननु तत्स्वरूपमित्यत्रै(त्रे)वाभेदे षष्ठीप्रयोग इति विपरीताभिधानमिदमिति चेत्, नात्र तत्पुरुषः, कर्मधारयस्यैवाश्रयणात्। तस्य स्वरूपमिति षष्ठीप्रयोगोऽप्यविभागेन दृश्यत इति चेत्, न, समभिरूढनयमतावलम्बिभिरस्य प्रयोगस्य विगीतत्वात्, भेदोपचारेण वाऽत्र षष्ठीसमर्थनात्। अत एवात्र—भेदे कथं षष्ठीति बाधमपि प्रदर्शयन्ति सूक्ष्मेक्षिणः, इत्थं च द्वन्द्वकर्मधारयातिरिक्तसमाससमर्थनमेतन्मत उपचारेणैवेति बोध्यम्॥ अपरमपि समभिरूढनयाभिप्रायभेदं दर्शयन्नाह—"घडकारविवक्खाए, कत्तुरणत्थंतरं जओ किरिया॥ न तदत्थंतरभूए, समवाओ तो मओ तीसे ॥२२४९॥ कुम्भंमि वत्थुपज्जाय-सङ्कराइप्पसङ्गदोसाओ॥ जो जेण जं च(व) कुरुए, तेण विभिन्नं तयं सव्वं ॥२२९०॥" घटं करोतीति घटकार इत्यस्यां विवक्षायां प्ररूपणायां, यतो यस्मात्तस्य घटकर्तुरनर्थान्तरमव्यतिरिक्ता घटकरणक्रिया, कर्तर्येव घटकारे तस्याः समवायात्, नोक्ति तस्मान्न तदर्थान्तरभूते कर्तृव्यतिरिक्ते, कुम्भे घटे, तस्याः समवायः संश्लेषो, मतः, कुतः?, वस्तुपर्यायसङ्करादिदोषप्रसङ्गात्, कर्तृगतक्रियायाः कर्मण्यपि समवायाभ्युपगमे वस्तुपर्यायाणां विभिन्नवस्तुधर्माणां परस्परं सङ्करः सङ्कीर्णत्वमेकत्वं वा स्यादिति। ततश्च यः कुम्भकारादिः, येन क्रियाविशेषेण, यत्कुम्भादिकं, कुरुते, तेन क्रियाविशेषेण, तत्क्रियारूपतयेत्यर्थः, सर्वं तत् कर्तृकर्माद्यभिन्नं स्यात्, तस्मात्कर्तृगतक्रियाया न कर्मणि सङ्क्रमः, किन्तु कुर्वन् कारकः, कुम्भनादिभ्य एव कुम्भादय इति मन्यते

शब्दादिनयमतेन द्वन्द्व-कर्मधारयसमासयोरेव मुख्यत्वं प्ररूपितं कारकरूपेण समभिरूढस्य भेदश्च॥

शब्दनयात्कारकस्वरूपतः समभिरूढस्य भेदमुपदर्श्य प्रकारान्तरेण भेदः प्रत्येकनयाभिप्रायतो हिंसा स्वरूपं चेति दर्शितम् ॥

समभिरूढः ॥ अयमस्मिन्विषयेऽन्यकारकसम्बद्धेऽन्यकारकानन्वयित्वाभ्युगमपरं शब्दं प्रति प्रत्यवतिष्ठते, नन्वेवमन्यपदार्थेऽन्यपदार्थानन्वयित्वमेव लाघवादभ्युपगम्यतामिति, नन्वेवं कुलाले घटकार इति प्रयोगोऽनुपपन्नः स्यादिति चेत्, बाह्यघटाभिप्रायेणानुपपन्नः स्यादेव, भावघटाभिप्रायेण तु न स्यात्, घटपरिणामित्वान्मृदादिद्रव्यमेव हि घटकारशब्दार्थः, घटाकाराध्यवसायादिपरिणामित्वात्, कुलालादिस्तु तत्कार एवाभिमानिकसम्बन्धेन केवलं बाह्यघटादिकारित्वं कुलालादावभ्युपयन्ति व्यवहारमूढाः । तदिदमभिप्रेत्यावोचाम—“ मृदादिभावैः परिणामवद्भिः, कुम्भादिभावाञ्जनितानवेत्य ॥ तेषामगृह्णन्परिणामिभावं, बाह्यं करोमीत्यभिमन्यते कः ॥ १ ॥ ” अत एवैतन्नये परगतस्य दानहरणादेर्नास्त्येव सद्भावः, स्वगतं तत्फलं तु स्वगतदानहरणाद्यध्यवसायविशेषादेवेति विवेचितमन्यत्र ॥ अयं पुनरिह शब्दसमभिरूढयोरवान्तरविशेषोऽनुसन्धेयः, यदाद्येन बाह्यवस्तुसन्निधापितस्तदाकाराध्यवसायः फलक्षमोऽभ्युपेयः, द्वितीयेन तु वासनाविशेषमात्रोत्थापित इति ॥ इत्थमेव नैगमनये जीवाजीवयोर्हिंसा, सङ्ग्रहव्यवहारयोः षट्स्वेव कायेषु, ऋजुसूत्रे प्रतिजीवं भिन्नभिन्ना सा, शब्दनये तु स्वपरिणामविशेषरूपैव सेत्यादि नयविचारे शब्दसमभिरूढयोर्भावहिंसाद्याश्रित्य विषयभेदः सङ्गच्छते, एवम्भूतस्तु क्रियाकालान्यकालस्पार्शिपदार्थप्रतिक्षेपादेव विशिष्यत इति न तत्र युक्त्यन्तरं मृग्यं, युक्त्यन्तरान्वेषणे वा तस्य माध्यमिकमतपर्यवसानमपि न दुर्लभमिति सङ्क्षेपः ॥ ‘पदार्थव्युत्पत्तिनिमित्तक्रियाकालव्यापकपदार्थसत्ताभ्युपगमपर एवम्भूतः’ । आह च भाष्यकारः—“ एवं जह सद्दत्थो, सन्तो भूओ तह तयन्नहाऽभूओ । तेणेवम्भूयणओ सद्दत्थपरो विसेसेसं ॥२२५१॥ ” एवं यथा ‘घट चेष्टायाम्’ इत्यादिरूपेण शब्दार्थो व्यवस्थितः, तद्वृत्ति तथैव यो वर्तते घटादिकोऽर्थः

स एव सन् भूतो विद्यमानः, अथ यस्तु, अन्यथा शब्दार्थोल्लङ्घनेन वर्तते स तत्त्वतो घटाद्यर्थोऽपि न भवति, किन्तु, अभूतोऽविद्यमानः । येनैवं मन्यते, तेन कारणेन, शब्दनयसमभिरूढनयाभ्यां सकाशाद्, एवम्भूतनयो विशेषेण शब्दार्थतत्परः। अयं हि योषिन्मस्तकारूढं जलाहरणादिक्रियानिमित्तं घटमानमेव घटं मन्यते, न तु स्वगृहकोणादिव्यवस्थितं, अचेष्टनाद्, इत्येवं विशेषतः शब्दार्थतत्परोऽयमिति भावः ॥ "वंजणअत्थतदुभयं, एवंभूओ विसेसेइ॥२१८५॥"त्ति निर्युक्तिदलं तद् व्याचष्टे भाष्यकृत्—"वंजणमत्थेणत्थं, च वंजणेणोभयं विसेसेइ ॥ जह घडसद्दं चेट्ठा-वया तहा तं पि तेणेव ॥२२५२॥" व्यज्यतेऽर्थोऽनेनेति व्यञ्जनं वाचकः शब्दो घटादिस्तं चेष्टावतैतद्वाच्येनार्थेन विशिनष्टि, स एव घटशब्दो यश्चेष्टावन्तमर्थं प्रतिपादयति, नान्यः, इत्येवं शब्दमर्थेन नैयत्ये व्यवस्थापयतीत्यर्थः, तथा, अर्थमप्युक्तलक्षणं अभिहितरूपेण व्यञ्जनेन विशेषयति, चेष्टापि सैव या घटशब्दवाच्यत्वेन प्रसिद्धा योषिन्मस्तकारूढस्य घटस्य जलाहरणादिक्रियारूपा, न तु स्थानभरणक्रियात्मिकेत्येवमर्थं शब्देन नैयत्ये स्थापयतीत्यर्थः, इत्येवमुभयं विशेषयति, एतदेवाह—'जह घडसद्दं' इत्यादि । इदमत्र हृदयं—यदा योषिन्मस्तकारूढश्चेष्टावानर्थो घटशब्देनोच्यते तदा स घटलक्षणोऽर्थः, स च तद्वाचको घटशब्दः, अन्यदा तु वस्त्वन्तरस्येव तच्चेष्टाभावादघटत्वं घटध्वनेश्चावाचकत्वमिति । एतदेव प्रमाणतः समर्थयन्नाह—" सद्दवसादभिधेयं, तप्पच्चयओ पईव-कुंभो व ॥ संसयविवज्जएग-त्तसङ्कराइप्पसङ्गाओ ॥ २२५३ ॥ " यथाभिधायकः शब्दस्तथाभिधेयं प्रतिपत्तव्यमिति प्रतिज्ञा, तत्प्रत्ययत एव ततः प्रत्ययसम्भूतेरिति हेतुः, प्रदीपवत् कुम्भवद्वेति दृष्टान्तः, विपर्यये बाधकमाह—संशयेत्यादि, इदमुक्तं भवति, प्रदीपशब्देन प्रकाशवानेवार्थोऽभिधीयते, अन्यथा संशयादयः प्रसज्येरन्, तथाहि, यदि

एवम्भूतनयस्वरूपं, निर्युक्तिभाष्यसंवादः, शब्दसमभिरूढनयाभ्यामस्य भेदः, शब्दार्थनैयत्यनिर्णयश्चेति प्रदर्शितम् ॥

॥ ६२ ॥

दीपनक्रियाविकलोऽपि दीपस्तर्हि दीपशब्देन प्रकाशवानर्थोऽभिहितः किं वाऽप्रकाशकोप्यन्धोपलादिरिति संशयः, अन्धोपलादिरेवानेनाभिहितो न दीप इति विपर्ययः, तथा, दीप इत्युक्तेऽप्यन्धोपलादेरन्धोपलादावप्युक्ते दीपस्यच प्रत्ययात्पदार्थानामेकत्वं साङ्कर्यं वा स्यादेवमतिप्रसङ्गोऽपीति "शब्दवशादेवाभिधेयमभिधेयवशाच्च शब्द" इति प्रतिपत्तव्यम्॥ समभिरूढनयं शिक्षयन्नाऽऽह—"सद्दपरिणामओ जइ, घडकुडसद्दत्थभेयपडिवत्ती ॥ तो णिच्चेट्ठो वि कहं, घडसद्दत्थो घडोऽभिमओ ॥ २२५४ ॥" यदि शब्दपरिणामतः शब्दभेदात् घटकुटकुम्भादिपर्यायशब्दानामर्थभेदप्रतिपत्तिः ततस्तर्हि, निश्चेष्टोऽपि घटशब्दाभिधेयोऽर्थः कथं, घटोऽभिमतः, 'घटनाद् घट' इति शब्दार्थाभावादिति ॥ किञ्च " जइ वत्थुसङ्कमो वा-ऽनिट्ठो चेट्ठावओ य सङ्कंती ॥ तो न हि निच्चिट्ठतया, जुत्ता हाणीव समयस्स ॥ २२५५ ॥" वाऽथवा युक्त्यन्तरमुच्यते हन्त ! यदि 'वत्थूओ सङ्कमणं होइ अवत्थू' इत्यादिवचनात्तव वस्तुसङ्कमोऽनिष्टोऽनभिमतस्तर्हि चेष्टावतोऽपि भावघटस्य निश्चेष्टतयेति, कोऽर्थः, चेष्टाविकले द्रव्यघटे घटशब्दप्रवृत्तितः सङ्क्रमणं सङ्क्रान्तिर्न हि नैव युक्ता, अथ चेष्टावतोऽपि निश्चेष्टेऽर्थे सङ्क्रान्तिरिष्यते, तर्हि समयहानिर्भवतो ' वत्थूओ सङ्कमणं ' इत्यादिस्वप्रतिज्ञाक्षतिरित्यर्थः। अपरमप्यस्य मतभेदं दर्शयन्नाह—"एवं जीवं जीवो, संसारी पाणधारणाणुभवो ॥ सिद्धो पुण अजीवो, जीवणपरिणामरहिओ त्ति ॥२२५६॥" जीवति " पञ्चेन्द्रियाणि त्रिविधं बलं च, उच्छ्वासनिःश्वासमथान्यदायुः ॥ प्राणा दशैते भगवद्भिरुक्ता—स्तेषां वियोगीकरणं च हिंसा ॥ १ ॥ " इत्यादिवचनप्रसिद्धान् दशविधप्राणान्धरतीति शब्दार्थवशाज्जीवन्नेव दशविधप्राणधारणं कुर्वन्नेवास्य नयस्य मतेन जीव उच्यते, स च नारकादिः संसार्येव भवति, सिद्धस्त्वेतन्नयमतेन जीवोऽसुमान् प्राणीत्यादिशब्दैर्न व्यपदेश्यः,

एवम्भूतनयाभिप्रायेण शब्दार्थयोर्नैयत्यानभ्युपगमे दोषप्रदर्शनं समभिरूढस्योपालम्भः प्रकारान्तरेण भेदप्ररूपणञ्च ॥

जीवनादिपरिणामरहित इति कृत्वा शब्दार्थाभावात्, किं तर्हि 'सत्तायोगात्सत्त्वः' 'अनति तांस्तान् ज्ञानदर्शनसुखादिपर्यायान् गच्छतीत्यात्मा' इत्यादिभिरेव शब्दैर्व्यपदेश्य इति ॥ इत्थं च यदुच्यते बोटिकवृन्देन(द्रव्यसङ्ग्रहे) "तिक्काले चदुपाणा, इंदियबलमाउआणपाणो य ॥ ववहारा सो जीवो, णिच्छयदो दुचेदणा जस्स ॥१॥" त्ति, तन्निजकपोलतल्पशयालुविरुद्धकल्पनया शिष्यव्यामोहनमात्रम्, अशुद्धनयविवेचनं शुद्धनयस्याप्यर्प्यमाणस्य प्रसिद्धार्थपुरस्कारेणोल्लेखस्यैव साम्प्रदायिकत्वात्, एवम्भूतनयमते 'जीव प्राणधारणे' इति धात्वर्थायोगेन शुद्धचेतनाद्वयवतोपि सिद्धस्य जीवपदार्थतया वक्तुमशक्यत्वात्, धात्वर्थ एव भावनिःक्षेपोपग्रहे च योषिन्मस्तकारूढो जलाहरणादिक्रियां कुर्वन्नपि घटो घटपदार्थो न स्यात्, किन्तु भावघटनयानुपयोग इत्येवम्भूतस्य प्रसिद्धोदाहरणमपि विलूनशीर्णं स्यात् । अथ शब्दार्थोभयविशेषणप्रधानत्वादेवम्भूतस्य व्यावहारिकशब्दार्थोपग्रहेणैव प्रसिद्धोदाहरणव्याघातो नैश्चयिकतदुपग्रहे च तद्व्याघातो न दोषाय नयान्तरार्थव्याघातपुरःसरमेव नयान्तरप्रवृत्तेरिति निश्चयोपजीविनिश्चयेन सिद्धस्यैव जीवत्वं न संसारिण इत्यस्मन्मतमदुष्टमिति चेत्, न, तथापि व्यवहारोपजीविनिश्चयेन शब्दार्थोपदर्शनं विना निश्चयोपजीविनिश्चयेन शब्दार्थोपदर्शनस्य क्रमभङ्गदोषावहत्वात् । अथ 'विचित्रा सूत्राणां कृतिराचार्यस्य' इति निश्चयोपजीविनिश्चयप्रदर्शनेच्छयैवास्मद्ग्रन्थकारप्रवृत्तेरयमदोष इति चेत्, न, ग्रन्थकर्तुरिच्छावैचित्र्यस्यापि सम्प्रदायानतिवर्तित्वात्, सम्प्रदायश्चादौ व्यवहारस्यैव तदनन्तरं नयपरिकर्मितमनेः कस्यचिद्बुद्धिविस्फारणार्थं व्यवहारोपजीविनिश्चयस्य तदनन्तरमेव च भृशतरं नयविस्तरावगाहनावदातमतिं शिष्यं प्रति निश्चयोपजीविनिश्चयस्य प्रदर्शनं प्रसिद्धम्, इति किमादावेव देवानांप्रियस्य 'सूचीमुखे मुसलप्रवेशनकल्पेन' निश्चयोपजीविनिश्चयप्रदर्शन-

एवम्भूतनयमतेन जीवत्वनिरूपणं, दिगम्बरकल्पिताभिप्रायनिरसनं, व्यवहारनिश्चययोरादितः शिष्येभ्यो देशना प्रकारश्च ॥

व्यापारेण, सिद्धान्ते ह्यादिदेशना व्यवहाराश्रितैव प्रत्यपादि, तस्या एव कर्म–कर्मफल--कर्तृ–भोक्त्रादिव्यवस्थोपपादकत्वेन सम्यग्दर्शनमूलत्वात्, न तु निश्चयदेशना, तस्या एतद्वैपरीत्येन मुग्धजनहृदये नास्तिक्यवासनाधानद्वारा मिथ्यादर्शनमूलत्वात्, प्रतिपादितं चैतद्व्यवहारभाष्ये, समर्थितं च गुरुतत्त्वविनिश्चयं स्वोपज्ञं विवृण्वद्भिरस्माभिः, अत एव सिद्धान्ते लोकोपकाराय क्वचित् क्वचिदाद्यनयत्रयदेशनैवोपनिबद्धा, न तूत्तरनयचतुष्टयप्ररूपणा, तस्या अपरिणत्यतिपरिणत्याधायकतया प्राच्यदशायामहितत्वात्, अङ्गोपाङ्गादिपारदृश्वनां परिणतजिनप्रवचनोपनिषदां दृष्टिवादाध्ययने तु सर्वनयानुयोगो विहित एव, तान्प्रति तस्य हितकारणत्वात्, तदाह श्रुतकेवली—"एएहिं दिट्ठिवाए, परूवणा सुत्तअत्थकहणा य ॥ इह पुण अणब्भुवगमो, अहिगारो तीहि ओसण्णं ॥२२७५॥" ति ॥ अथ 'कालत्रये प्राणचतुष्टयधारी यः स व्यवहारतो जीव' इति व्युत्पाद्य 'यस्य द्वे चेतने स निश्चयतो जीव' इति वाग्भङ्ग्या कर्मोपाधिनिरपेक्षशुद्धद्रव्यार्थिकलक्षणनिश्चयेन सिद्धसंसारिणामविशेपेण जीवत्वव्युत्पादने न क्रमभङ्गादिदोषलेशोऽपीति चेत्, न, तेन सर्वेषां सामान्यतो जीवत्वे सिद्धे यस्येति विशेपोपग्रहानुपपत्तेः, न हि शुद्धनयमते एकः शुद्ध एकश्चाशुद्धोऽस्ति, अत एव " मग्गणगुणठाणेहि य, चउदसहिं हवंति तह असुद्धणया ॥ विण्णेया संसारी, सव्वे सुद्धा हु सुद्धणया ॥ १३ ॥ " ( द्रव्यसङ्ग्रहे ) इति परेणैवाग्रे प्रतिपादितम्, अस्मत्प्रावचनिका अपि च सामायिकनयविचारे स्वजात्या शुद्धस्य सर्वस्यैवात्मनः सामायिकरूपतां सङ्ग्रहनयापेक्षया प्रतिपादयन्तीत्यन्यत्र विस्तरः। यदपि देशदेशिनोरेकत्वं समर्थयता देशी चासौ देशश्चेत्याद्युक्तं समभिरूढेन, तदपि समभिरूढनयमते न युक्तमिति दर्शयन्नाह—" जइ देसि च्चिय देसो, पत्ता पज्जायवयणपडिवत्ती ॥ पुणरुत्तमाणत्थय, वत्थुसङ्कमो वा ण

प्राच्यदशायामाद्यनयत्रिकप्ररूपणाया एव सिद्धान्तोक्तत्वं सर्वनयानुयोगस्य च विशिष्टजीव एवाधिकारीत्यादिनिरूपणम् ॥

चेष्टं ते ॥ २२५७ ॥" यदि देश्येव देशः, देशो वा देशी तदानयोर्वृक्षः पादप इत्यादीनामिव पर्यायवचनतैव प्राप्ता, ततश्च यथा वृक्षः पादप इत्येकार्थशब्दप्रयोगे पौनरुक्त्यं तथा देशिदेशशब्दप्रयोगेऽपि स्यात्, तथा एकेनापि द्वितीयशब्दार्थस्य प्रतिपादितत्वाद् द्वितीयशब्दप्रयोगस्यानर्थक्यं च स्यात्, तथा, देशस्य देशिनि, देशिनश्च देशे तिरोधानाद्वस्तुसङ्क्रमोऽपि भवेत्, न चेदं तवेष्टं, तस्मान्न देशदेशिनोरेकत्वमिति । भेदपक्षस्तु तयोस्त्वयापि निराकृत एव ॥ अथाभेदपक्षोक्तदूषणभिया पुनस्तमङ्गीकरिष्यसि, तत्राह—" अह भिन्नो तस्स तओ, ण होइ ण य वत्थुसङ्कमभयाओ ॥ देसी चेव य देसो, न वा पएसी पएसोत्ति ॥ २२५८ ॥" अथ भिन्नो देशिनो देशः, तर्हि प्राक् त्वदुक्तयुक्तेरेव, तस्य देशिनस्तकोऽसौ देशो न भवतीति स्मर्यतामिदं, न च वस्तुसङ्क्रमादिदोषभयाद्देश्येव देशोऽभ्युपगन्तव्य इत्यनन्तरमेवोक्तम्, एवं प्रदेशी प्रदेश इत्यपि नैष्टव्यं, समानदोषत्वात्, तस्मान्न देशिमात्रं देशमात्रं वा, किन्त्वखण्डं वस्त्वभ्युपगन्तव्यं, न तु देशप्रदेशकल्पना कार्या, तयोर्भेदेऽभेदे च यथोक्तदोषसम्भवात्, अत एतन्मते कर्मधारयोऽपि पदानां न भवति, सर्वस्यापि वस्तुनः प्रत्येकमखण्डरूपत्वात् ॥ अथ देशप्रतिपादनार्थं नोदेशीति प्रयोगः क्रियते एकदेशवचनश्च नोशब्दो देशिन एकदेशभूत एव देशो न पुनस्तद्व्यतिरिक्त इत्यर्थप्रतिपादक इति चेत्, तदप्ययुक्तमित्याह—" नोसद्दो त्ति समत्तं, देसं व भणिज्ज जइ समत्तं तो ॥ तस्स पओगोऽणत्थो, अह देसो तो ण सो वत्थुं ॥२२५९॥ " नो देशीति प्रयोगे योऽयं नोशब्दः स किं समस्तं देशिलक्षणं वस्तु वदेत्, अथवा तद्देशमेव ब्रूयात्, यद्याद्यः पक्षः, तदा नोशब्दस्य प्रयोगोऽनर्थकः, केवलाद्देशिशब्दादेव समस्तवस्तुप्रतीतेः, अथ देशो नोशब्देनोच्यते, ततो नासौ वस्तु, देशिनो भेदा-

समभिरूढनयमतेन कर्मधारयसमासस्य देशिदेशादिष्वनुपपन्नत्वं प्रदर्श्य तन्निष्कर्षः ॥

॥ ६४ ॥

भेदाभ्यामनुपपत्तेरुक्तत्वात् ॥ नीलोत्पलादिसमासश्च द्वयोः पदयोरेकाधिकरणतायां भवति, द्वयोश्चैकमधिकरणं नास्ति, अनन्तरमेव निषिद्धत्वादिति कर्मधारयसमासोऽपि न युक्त इति दर्शयन्नाह––"नीलुप्पलाइसद्दा–ऽहिगरणमेगं च जं मयं तत्थ ॥ नणु पुणरुत्ताऽणत्थय–समयविघाया पुहुत्तं वा ॥ २२६० ॥" नीलोत्पलादिशब्दानां यदेकमधिकरणमतिक्रान्तनयस्य सम्मतं तत्र ननु पौनरुक्त्यानर्थक्यसमयविघातलक्षणा दोषा उक्ता एवेति न कर्मधारयः, अथ पौनरुक्त्यादिदोषा नेष्यन्ते, तर्हि नीलोत्पलादिशब्दाभिधेयस्यार्थस्य पृथक्त्वं भेदः प्राप्नोतीत्यतोऽपि तुल्याधिकरणताऽभावान्न कर्मधारयः ॥ तस्मात् किं स्थितमित्याह ॥ " तो वत्थुसङ्कराइ–प्पसङ्गओ सव्वमेव पडिपुन्नं ॥ वत्थुं सेसमवत्थुं, विलक्खणं खरविसाणं व ॥ २२६१ ॥" तस्माद्वस्तुसाङ्कर्यादिदोषप्रसङ्गतः, सर्वं धर्मास्तिकायादिकं, सम्पूर्णं देशदेशिकल्पनारहितमखण्डं वस्तु, एतस्मात्तु विलक्षणं देशदेशिकल्पनान्वितमवस्तु, युक्तिविकलत्वात्, खरविषाणवदिति ॥ नन्वेवं नीलघट इत्यादिसमासान्नीलो घट इत्यादिवाक्याच्च शाब्दबोधो न स्यादिति चेत्, गृहीतैवम्भूतनयव्युत्पत्तीनां न स्यादेव, अन्येषां तु भवन्नयं भ्रमरूपतां नातिक्रामतीति गृहाण । समभिरूढेन ह्येकपदार्थे भेदसम्बन्धेनेतरपदार्थान्वयाभावव्याप्यत्वं स्वीक्रियते, मया तु सम्बन्धमात्रेणेतरपदार्थान्वयाभावव्याप्यत्वमिति लाघवं, तस्मान्नीलघट इत्यादौ ' नीलीभवनान्नीलो ' ' घटनाद्घट ' इत्यादिक्रियाद्वयाऽसमावेशादनन्वय एव, गुणादिवाचिनः शब्दास्त्वेतन्नये न सन्त्येव, सर्वेषामेव व्युत्पत्त्यर्थपर्यालोचनायां क्रियाशब्दत्वात्, क्रियाशब्दयोरपि च भिन्नयोः परस्परमनन्वय एव, नीलघटादिविशृङ्खलपदोपस्थित्यनन्तरं तत्संसर्गबोधश्च मानसोऽपेक्षामात्रं. तथैव च सर्वो व्यवहारः, यदि च नीलो घट इत्यादेरखण्डनीलघटादिवाक्यार्थबोधः शाब्द एवानुभवसिद्ध-

समभिरूढनयाभिप्रायेण नीलोत्पलादावपि कर्मधारये दोषसङ्घातः । एवम्भूतनयमतेन शाब्दबोधप्रकारश्च ॥

श्री
अनेकान्त-
व्यवस्था-
प्रकरणम् ॥
॥ ६५ ॥

स्तदा वाक्यार्थस्याखण्डत्वादखण्डवस्तुबोधाय वाक्ये लक्षणैव स्वीकर्तव्या, यथा वेदान्तिनां 'सोऽयं देवदत्त' इत्यादौ 'तत्त्वमसि' इत्यादौ च, सा च न शक्यसम्बन्धरूपा पदद्वयात्मकवाक्यशक्ययोः सम्बन्धानभ्युपगमात्, किन्तु तात्पर्यानुपपत्तिसध्रीचीनाखण्डवस्तुविषयकशाब्दबोधजनकशक्तिविशेषस्वभावा, वाक्यस्फोटाभ्युपगमे तु तत एवाभिव्यक्ताखण्डादखण्डवस्तुबोधो नानुपपन्न इति रहस्यम् ॥ अनेकान्ततत्त्वव्यवस्थायां सप्तनयविचारः सम्पूर्णः ॥

समर्थिता इति श्रीम-द्यशोविजयवाचकैः ॥ श्रीसिद्धान्तानुसारेण, नयाः शब्दादयस्त्रयः ॥ १ ॥

एते च नयाः प्रत्यक्षादिस्थलेऽऽजहद्वृत्त्यैकोपयोगरूपतया सापेक्षाः प्रमाणतामास्कन्दन्ति, शब्दस्थले च साकाङ्क्षखण्डवाक्यजसप्तभङ्ग्यात्मकमहावाक्यरूपाः प्रमाणं, न निरपेक्षाः, तदुक्तं सम्मतौ ॥ "जे वयणिज्जवियप्पा, संजुज्जंतेसु होंति एएसु ॥ सा ससमयपण्णवणा, तित्थयराऽऽसायणा अण्णा ॥ १-५३ ॥ ये वचनीयस्याभिधेयस्य, विकल्पास्तत्प्रतिपादका अभिधानभेदाः, संयुज्यमानयोरन्योन्यसम्बद्धयोर्भवन्ति, अनयोर्द्रव्यास्तिकपर्यायास्तिकनयवाक्ययोः, ते च 'कथञ्चिन्नित्य आत्मा' 'कथञ्चिदनित्य' इत्येवमादयः ॥ सैषा, स्वसमयस्य तत्त्वार्थस्य, प्रज्ञापना निदर्शना, अन्या निरपेक्षनयप्ररूपणा तीर्थकरस्याशातना अधिक्षेपः, तत्प्ररूपणोत्तीर्णत्वात्, 'उत्सर्गतः स्याद्वाददेशनाया एव तीर्थकरेण विहितत्वाद्' 'विभज्जवायं च वियागरिज्जा' इत्याद्यागमवचनोपलम्भात् ॥ पुरुषविशेषमपेक्ष्यापवादतस्त्वेकनयदेशनायामपि न दोषः, तदाह सम्मतौ—पुरिसज्जायं तु पडुच्च जाणओ पन्नवेज्ज अन्नयरं ॥ परिकम्मणाणिमित्तं, ठाएहि सो विसेसं पि ॥ १-५४॥ पुरुषजातं प्रतिपन्नद्रव्यपर्यायान्यतरस्वरूपं श्रोतारं, प्रतीत्य आश्रित्य, ज्ञकः स्याद्वा-

नयविचारं
समर्थ्य स-
र्वेषां सापेक्ष-
त्वे प्रमाण-
त्वमिति
स्याद्वाद-
देशनाया
एवोत्स-
र्गत्वं तीर्थ-
करोपदेश-
श्वेत्यादि-
निरूपणम्॥

दविद्, प्रज्ञापयेदन्यतरदज्ञातं, परिकर्मनिमित्तं, अज्ञातांशसंस्कारपाटवार्थं, ततः परिकर्मितमतये स्थापयिष्यत्यसौ स्याद्वादविशेषमपि परस्पराऽविनिर्भागरूपं, ततश्चेयमेकनयदेशनापि भावतः स्याद्वाददेशनैवेति फलितम् ॥ अतः स्याद्वाददेशनाया एव परिणतजिनप्रवचनानामभ्यर्हितत्वात्तद्वाक्यं सप्तभङ्ग्यात्मकमुपदर्श्यते——स्यादस्त्येव घटः १, स्यान्नास्त्येव २, स्यादवक्तव्य एव ३, स्यादस्त्येव स्यान्नास्त्येव ४, स्यादस्त्येव स्यादवक्तव्य एव ५, स्यान्नास्त्येव स्यादवक्तव्य एव ६, स्यादस्त्येव स्यान्नास्त्येव स्यादवक्तव्य एव ७ चेति ॥ तत्रासत्त्वोपसर्जनसत्त्वविवक्षायां प्रथमो भङ्गः १, सत्त्वोपसर्जनासत्त्वविवक्षायां द्वितीयः २, युगपदुभयविवक्षायां तृतीयः ३। द्वयोर्धर्मयोः प्राधान्येन गुणभावेन वा प्रतिपादने कस्यापि वचसः सामर्थ्याभावात्, तथाहि, न तावत्समासवचनं तत्प्रतिपादकं, समासषट्के बहुव्रीहेरन्यपदार्थप्रधानत्वात्, प्रकृते चोभयप्राधान्यविवक्षणात्, अव्ययीभावस्य चात्रार्थेऽप्रवृत्तेः, द्वन्द्वस्य चोभयपदप्राधान्येऽपि द्रव्यवृत्तेः प्रकृतार्थाप्रतिपादकत्वाद्, गुणवृत्तेरपि द्रव्याश्रितगुणप्रतिपादकत्वात्, द्रव्यमन्तरेण गुणानां तिष्ठतीत्यादिक्रियाधारत्वासम्भवात्, तस्या द्रव्याश्रितत्वाद्, एवञ्च प्रधानभूतयोर्गुणयोरप्रतिपत्तेः, तत्पुरुषस्याप्युत्तरपदार्थप्रधानत्वाद्, द्विगोः संख्यावाचिपूर्वपदत्वात्, कर्मधारयस्यापि गुणाधारद्रव्यविषयत्वात्, न च समासान्तरसद्भावो, येन युगपद् गुणद्वयं प्रधानभावेन समासपदवाच्यं स्यात्, अथ द्रव्यान्वयव्यवधानेन क्रियान्वयित्वरूपप्राधान्यं प्रथमद्वितीयभङ्गयोरतिप्रसक्तं, उत्कटतात्पर्यविषयत्वरूपप्राधान्यग्रहणे च प्रकृते द्वन्द्वकर्मधारययोरपि प्राधान्येन गुणद्वयवाचकतायां न क्षतिरिति चेत्, न, द्वन्द्वे द्विवचनाद्भेदोपस्थितौ निरवयवप्रतीतिव्याघातः, कर्मधारये च विशेष्यतयाऽभ्यर्हितत्वेन द्रव्य एवोत्कटतात्पर्यमित्याशयाद् ।

जिनवचनावदातमनसां स्याद्वाददेशनैव प्रशस्येति तद्वाक्यस्य सप्तभङ्गीस्वरूपत्वं, सप्तभङ्ग्याश्च विवरणं तत्र तृतीयभङ्गे शङ्कासमाधाने॥

अत एव न वाक्यमपि तथाभूतगुणद्वयप्रतिपादकं सम्भवति, तस्य वृत्त्यसम्भिन्नाऽर्थत्वात्, न च केवलं पदं वाक्यं वा लोकप्रसिद्धं, तस्यापि परस्परापेक्षद्रव्यादिविषयतया तथाभूतार्थप्रतिपादकत्वायोगात्, न च तौ सदिति शतृशानचयोरिव साङ्केतिकपदवाच्यत्वं, विकल्पप्रभवशब्दवाच्यत्वप्रसक्तेः, विकल्पानां च युगपदप्रवृत्तेर्नैकदा तयोस्तद्वाच्यतासम्भवः, न च समूहालम्बनविकल्पमादाय नायं दोषः, तादृशविकल्पप्रभवपदानां बुद्धिविशेषविषयतावच्छेदकत्वोपलक्षितनानाशक्यतावच्छेदकत्वेन परमार्थतो नानार्थस्थानीयत्वात्, तेभ्यः प्रकरणादिनियन्त्रितप्रतिनियतैकार्थबोधस्यैवैकदा सम्भवात्। न च येषां वैकल्पिकपदानां मिलितोभयबोधकस्वाभाव्यं तान्यादाय नाऽवाच्यत्वमिति वाच्यम्, सदसदुभयसाङ्केतिकपदस्य पुष्पदन्तादिवद्वित्वविश्रान्तत्वेनैकत्वावच्छिन्ने द्वित्वावच्छिन्नान्वयस्य निराकाङ्क्षत्वादेवावाच्यत्वसिद्धेः, अत एव वस्त्वादिपदानि जैनैः सदसदुभयात्मकैकजात्यन्तरे सङ्केत्यन्ते, ननु सदसतोरित्यवधेयम्, वस्तुत एकपदजनितप्रातिस्विकधर्मद्वयावच्छिन्नविशेष्यताकशाब्दबोधाविषयत्वेनावक्तव्यत्वं प्रकृतेऽव्याहतं, अत एव कर्मधारयाख्यं सामासिकमेकपदमादायापि न दोषस्तज्जन्यबोधे उभयनिरूपितैकविशेष्यताभ्युपगमेन यथोक्तावाच्यत्वाक्षतेरिति दिक् ॥ ननु च घटशब्दप्रवृत्तिनिमित्ते विधिरूपेऽसम्बद्ध एव तत्र पटाद्यर्थान्तरप्रतिषेध इति चेत्, न, पटादेस्तत्राभावाभावे घटशब्दप्रवृत्तिनिमित्तस्य घटत्वस्यैवासिद्धेः, शब्दानां चार्थज्ञापकत्वं न कारकत्वमिति तथाभूतार्थप्रकाशनं तथाभूतेनैव शब्देन विधेयमिति नासम्बद्धस्तत्र पटाद्यर्थप्रतिषेधः, तथापि 'स्वद्रव्यादिना सन्नेव' इत्यत एव समानसंवित्संवेद्यतया परद्रव्यादिनाऽसत्त्वलाभसम्भवात्तद्बोधनाय द्वितीयभङ्गप्रयोगोऽनर्थक इति चेत्, न, समानसंवित्संवेद्यताया मानमबोध एव तन्त्रत्वात्, 'शाब्दी ह्याकाङ्क्षा शब्देनैव पूर्यते'

इति न्यायात्परद्रव्यादिनाऽसत्त्वं शब्देन बोधयितुं द्वितीयभङ्गोपन्यासस्सार्थक्यात् ॥ अथवा सत्त्वं सर्वात्मकमिति सांख्यमतव्यवच्छेदार्थमर्थान्तरप्रतिषेधो विधीयते, तत्र तस्य प्रतीत्यभावात् १ ॥ यद्वा नामस्थापनाद्रव्यभावभिन्नेषु विधित्सिताविधित्सितप्रकारेण प्रथमद्वितीयौ भङ्गौ, तत्प्रकाराभ्यां युगपद्वाच्यः, तथाभिधेयपरिणामरहितत्वात्तस्य, यतो यद्यऽविधित्सितरूपेणापि घटः स्यात् प्रतिनियतनामादिभेदव्यवहाराभावप्रसक्तिः, तथा च विधित्सितस्यापि नात्मलाभ इति सर्वाभाव एव भवेत्, तथा यदि विधित्सितप्रकारेणाप्यघटः स्यात् तदा तन्निबन्धनव्यवहारोच्छेदप्रसक्तिरेव, एकपक्षाभ्युपगमेऽपि तदितराभावे तस्याप्यभाव इत्यवाच्यः । रूपान्तरेण विधित्सा रूपान्तरावच्छिन्नसत्तां न विरुणद्धि रूपवत्त्वेन घटविधित्सायामपि रसवत्त्वेन तत्सत्ताया अनपायादिति चेत्, न, गुणात्मकसत्ताया गुणरूपत्वेऽपि व्यावहारिक्यास्तस्यास्तदभिधेयपरिणामपर्यवसितत्वेन विधित्सानुसारित्वात्, एवमग्रेऽप्याक्षेपपरिहारौ द्रष्टव्यौ २ ॥ अथवा स्वीकृतप्रतिनियतप्रकारे तत्रैव नामादिके यः संस्थानादिस्तत्स्वरूपेण घटः, इतरेण चाघट इति प्रथमद्वितीयौ ॥ ताभ्यां युगपदभिधातुमशक्तेरवाच्यः, विवक्षितसंस्थानादिनेव यदीतरेणापि घटः स्यात्तदैकस्य सर्वघटात्मकत्वप्रसक्तिः, अथ विवक्षितेनाप्यघटः, पटादाविव घटार्थिनस्तत्राप्यप्रवृत्तिप्रसक्तिः, एकान्ताभ्युपगमेऽपि तथाभूतस्य प्रमाणाविषयत्वतोऽसत्त्वादवाच्यः ३ ॥ यदि वा स्वीकृतप्रतिनियतसंस्थानादौ मध्यावस्था निजं रूपं, कुशूलकपालादिलक्षणे पूर्वोत्तरावस्थे अर्थान्तररूपं, ताभ्यां सदसत्त्वात् प्रथमद्वितीयौ, युगपत्ताभ्यामभिधातुमसामर्थ्यादवाच्यलक्षणस्तृतीयो भङ्गः, तथाहि, मध्यावस्थावदितरावस्थाभ्यामपि यदि घटः स्यात्तदा तस्यानाद्यनन्तत्वप्रसक्तिः, अथ मध्यावस्थारूपेणाप्यघटः सर्वदा घटाभावप्रसक्तिः, एकान्तरूपत्वेप्ययमेव प्रसङ्ग इत्य-

सप्तभङ्ग्यां तृतीयभङ्गस्य षोडशभिर्विकल्पैस्तत्त्वनिष्टङ्कनं तत्र नानास्वरूपैराद्यचतुर्विकल्पोपपादनम् ॥

सत्त्वादेवावाच्यः ४ ॥ अथवा तस्मिन्नेव मध्यावस्थास्वरूपे वर्तमानाऽवर्तमानक्षणरूपतया सदसत्त्वात् प्रथमद्वितीयभङ्गौ, ताभ्यां युगपदभिधातुमशक्तेरवाच्यलक्षणस्तृतीयः, तथा हि यदि वर्तमानक्षणवत् पूर्वोत्तरक्षणयोरपि घटः स्यात्तर्हि वर्तमानक्षणमात्रमेवासौ स्यात्, पूर्वोत्तरयोर्वर्तमानताप्राप्तेः, न च वर्तमानक्षणमात्रमपि, पूर्वोत्तरापेक्षस्य तदभावेऽभावात्, अथातीतानागतक्षणवद्वर्तमानक्षणरूपतयाप्यघटः एवं सति सर्वदा तस्याभावप्रसक्तिः, एकान्तपक्षेऽप्ययमेव दोष इत्यभावादेवावाच्यः ५ ॥ यद्वा क्षणपरिणतिरूपे घटे लोचनजप्रतिपत्तिविषयत्वाविषयत्वाभ्यां सदसत्त्वात् प्रथमद्वितीयौ भङ्गौ, ताभ्यां युगपदादिष्टोऽवाच्यः, तथाहि, लोचनजन्यप्रतिपत्तिविषयत्वेनेव यदीन्द्रियान्तरजप्रतिपत्तिविषयत्वेनापि घटस्स्यात्तर्हि, इन्द्रियान्तरकल्पनावैयर्थ्यप्रसक्तिः, इन्द्रियसङ्करप्रसक्तिश्च । अथेन्द्रियान्तरजप्रतिपत्तिविषयत्वेनेव चक्षुर्जप्रतिपत्तिविषयत्वेनापि न घटस्तर्हि तस्याऽरूपत्वप्रसक्तिः, एकान्तवादेऽपि तदितराभावे तस्याप्यभावादवाच्य एव ६ ॥ अथवा लोचनजप्रतिपत्तिविषये तस्मिन्नेव घटशब्दवाच्यता निजं रूपं, कुटशब्दाभिधेयत्वमर्थान्तरभूतं रूपं, ताभ्यां सदसत्त्वात्प्रथमद्वितीयौ, युगपत्ताभ्यामभिधातुमिष्टोऽवाच्यः, यदि घटशब्दवाच्यत्वेनेव कुटशब्दवाच्यत्वेनापि घटस्तर्हि त्रिजगत एकशब्दवाच्यताप्रसक्तिः, घटस्य वाऽशेषपटादिशब्दवाच्यत्वप्रसक्तिरिति घटशब्दवाच्यत्वप्रतिपत्तौ समस्तनद्वाचकशब्दप्रतिपत्तिप्रसङ्गश्च, अर्थे वाच्यतायाः शब्दे वाचकतायाश्च समानसंवित्संवेद्यत्वात्, तथा घटशब्देनापि यद्यवाच्यः स्यात्तर्हि घटशब्दोच्चारणवैयर्थ्यप्रसक्तिः, एकान्ताभ्युपगमेऽपि घटस्यैवासत्त्वात्सङ्केतद्वारेणापि न तद्वाचकः कश्चिच्छब्द इत्यवाच्य एव ७ ॥ अथवा घटशब्दाभिधेये तत्रैव घटे हेयोपादेयान्तरङ्गबहिरङ्गोपयोगानुपयोगरूपतया सदसत्त्वात्प्रथमद्वितीयौ, ताभ्यां युगपदादिष्टोऽ-

सप्तभङ्गयां तृतीयभङ्गतत्त्वनिर्णयाय कृतेषु षोडशविकल्पेषु पञ्चमषष्ठसप्तमविकल्पोपपादनम् ॥

वाच्यः, यदि हि हेयबहिरङ्गानर्थक्रियाकार्यऽसन्निहितरूपेणाप्यर्थक्रिया क्षमादिरूपेणेव घटः स्यात्तर्हि पटादीनामपि घटत्वप्रसक्तिः, तद्वद् यद्युपादेयादिरूपेणाप्यघटः स्यात्तदाऽन्तरङ्गस्य वक्तृश्रोतृगतहेतुफलभूतघटाकारावबोधकविकल्पोपयोगस्याप्यभावे घटस्याप्यभावप्रसङ्ग इत्यवाच्यः, एकान्ताभ्युपगमेऽयमेव प्रसङ्ग इत्यवाच्यः ८ ॥ अथवा तत्रैवोपयोगेऽभिमतार्थावबोधकत्वानभिमतार्थानवबोधकत्वतः सदसत्त्वात्प्रथमद्वितीयौ, ताभ्यां युगपदादिष्टोऽवाच्यो, विवक्षितार्थप्रतिपादकत्वेनेवेतरेणापि यदि घटः स्यात्तर्हि प्रतिनियतोपयोगाभावः, तथाऽभ्युपगमे विविक्तरूपोपयोगप्रतिपत्तिर्न भवेत्, तदुपयोगरूपेणापि यद्यघटो भवेत्तदा सर्वाभावोऽविशेषप्रसङ्गो वा, न चैवं, तथाऽप्रतीतेः, एकान्तपक्षेऽप्ययमेव प्रसङ्ग इत्यवाच्यः ९॥ अथवा सत्त्वमर्थान्तरभूतं साधारणत्वात्, निजं घटत्वमसाधारणत्वात्, ताभ्यां प्रथमद्वितीयौ, अभेदेन ताभ्यां निर्दिष्टो घटोऽवक्तव्यो भवति, तथा हि, यदि सत्त्वमनूद्य घटत्वं विधीयते तदा सत्त्वस्य घटत्वेन व्याप्तेर्घटस्य सर्वगतत्वप्रसङ्गः, तथाऽभ्युपगमे प्रतिभासबाधा व्यवहारविलोपश्च, तथाऽसत्त्वमप्यनूद्य यदि घटत्वं विधीयते तदा प्रागभावादिचतुष्कस्य घटत्वेन व्याप्तेर्घटत्वप्रसङ्गः । अथ घटत्वमनूद्य सदसत्त्वे विधीयेते तदा घटत्वं यत्तदेव सदसत्त्वे इति घटमात्रे ते प्रसज्येयातां, तथा च पटादीनां प्रागभावादीनां चाभावप्रसक्तिरिति प्राक्तनन्यायेन विशेषणविशेष्यलोपात् सन् घट इत्येवमप्यवक्तव्योऽसन्घट इत्येवमप्यवक्तव्यो न चैतत्ततोऽवाच्यः, अनेकान्तपक्षे तु कथञ्चिदवाच्यो, न तु सर्वथा, अभेदवादकृततद्दोषस्य भेदवादेन परिहारादिति न कश्चिद्दोषः, न चाभेदैकान्तेऽपि घटत्वमनूद्य सत्त्वासत्त्वयोः समवायविशेषणताभ्यां विधानान्नायं दोष इति वाच्यं, अतिरिक्तसमवायविशेषणतयोर्मानाभावेन भेदैकान्तस्यैवाऽवाच्यत्वादिति दिग् १० ॥ यद्वा व्यञ्जनपर्यायोऽर्थान्तरभूतस्तदतद्विषयत्वात् तस्य, घटार्थपर्यायस्त्वन्यत्रा-

सप्तभङ्ग्यां तृतीयभङ्ग-तत्त्वनिर्णयाय कृतेषु षोडशविकल्पेष्वष्टमनवमदशमविकल्पोपपादनम् ॥

वृत्तेर्निजः, ताभ्यां प्रथमद्वितीयौ, अभेदेन ताभ्यां निर्देशेऽवक्तव्यो, यतोऽत्रापि यदि व्यञ्जनमनूद्य घटार्थपर्यायविधिस्तदा तस्याशेषघटात्मकताप्रसक्तिरिति भेदनिबन्धनतद्व्यवहारविलोपः, अथार्थपर्यायमनूद्य व्यञ्जनपर्यायविधिस्तदा प्रसिद्धविशेषानुवादेन घटत्वसामान्यविधानात्तस्याकार्यत्वम् , एवं च घटस्याभावादवाच्यः, अनेकान्तपक्षे तु युगपदभिधातुमशक्यत्वात्कथञ्चिदवाच्यः ११॥ यद्वा सत्त्वमर्थान्तरभूतं, तस्य विशेषवदेकत्वादनन्वयिरूपता, अत एव न तद्वाच्यमन्त्यविशेषवत् ,अन्त्यविशेषस्तु निजः,सोप्यवाच्योऽनन्वयात् ,प्रत्येकावक्तव्याभ्यां ताभ्यामादिष्टो घटोऽवक्तव्यः, अनेकान्तपक्षे तु कथञ्चिदवक्तव्यः १२॥ अथवा सन्द्रुतरूपाः सत्त्वादयो घटः सन्द्रुतं रूपं प्रतिनियतार्थक्रियाकारितावच्छेदिका ऐक्यपरिणतिरित्यत्र दर्शनेऽर्थान्तरभूताः सत्त्वादयो, निजं सन्द्रुतरूपं, ताभ्यामादिष्टो घटोऽवक्तव्यः, यतः सन्द्रुतरूपस्य सत्त्वरजस्तमस्सु सत्त्वे सत्त्वरजस्तमसामभावप्रसक्तिस्तेषां परस्परवैलक्षण्येनैव सत्त्वादित्वात् ,सन्द्रुतरूपत्वे च वैलक्षण्याभावादभाव इति विशेष्याभावादवाच्यः, असत्त्वे त्वसत्कार्योत्पादप्रसङ्गः, न चैवमभ्युपगम्यते, अभ्युपगमेऽपि विशेषणाभावादवाच्यः, तत्काले सन्द्रुतरूपत्वान्न विशेषणाभाव इति चेत् , कालभेदेनापि सदसद्रूपसमावेशेऽनेकान्तप्रवेशात्। प्राक् शक्त्यैव सन्द्रुतरूपमस्ति न च तथा तत्सत्त्वादिवैलक्षण्यव्याहन्तृ, व्यक्त्या तु घटसामग्रीत एव तत्स्यादिति न दोष इति चेत् , न, व्यक्तेरपि सदसद्विकल्पग्रासात् । अथ नैयायिकादीनां यथा घटसत्त्वे भूतले सतोऽपि घटाभावस्य, न सम्बन्धः, किन्तु तदपसारणदशायामेव तत्कालावच्छिन्नस्वरूपात्मा सः, तथा ममापि सन्द्रुतरूपस्य प्राक्सत्त्वेऽपि तत्कालावच्छिन्नस्वरूपात्मा न सम्बन्धो, घटसामग्रीसम्पत्तौ च सम्बन्धलाभाद् व्यवहारसिद्धिरिति चेत् , न, उभयोरपि वादिनोर्यथोक्तसम्बन्धस्याऽनेकान्तं विनाऽवाच्यत्वादिति दिक् १३ ॥ अथवा रूपादयो ह्यर्थान्तरभूता असंहृतरूपत्वं सामूहिकप्रत्ययग्राह्यं

निजं, ताभ्यामादिष्टोऽवक्तव्यो, यथा ह्यरूपादिव्यावृत्तरूपादयस्ते, एवञ्च रूपादीनां घटताऽवाच्याऽरूपत्वादित्वात् घटस्य, न हि परस्परविलक्षणबुद्धिग्राह्या रूपादय एकानेकात्मकप्रत्ययग्राह्याऽरूपादिरूपघटतां प्रतिपद्यन्ते, विशेष्यलोपादवाच्यः, अथाप्यरूपा रूपादयः, नन्वेवमपि रूपादय एव न भवन्तीति तेषामभावे केऽसंहृतरूपतया विशेष्याः येनासंहृतरूपा रूपादयो घटो भवेदित्येवमप्यवाच्यः, अनेकान्तवादे च कथञ्चिदवाच्यः १४ ॥ यदि वा रूपादयोऽर्थान्तरभूताः, मतुबर्थो निजः, ताभ्यामादिष्टो घटोऽवक्तव्यः, रूपाद्यात्मकैकाकारावभासप्रत्ययविषयव्यतिरेकेणापररूपसम्बन्धानवगतेर्विशेष्याभावाद्रूपादिमान् घट इत्यवाच्यः, न चैकाकारप्रतिभासग्राह्यव्यतिरेकेणापररूपादिप्रतिभास इति विशेषणाभावादप्यवाच्यः, अनेकान्ते तु कथञ्चिदवाच्यः १५ ॥ अथवा बाह्योऽर्थान्तरभूतः, उपयोगस्तु निजः, ताभ्यामादिष्टोऽवक्तव्यः, तथाहि, य उपयोगः स घट इति यद्युच्येत तर्ह्युपयोगमात्रकमेव घट इति सर्वोपयोगस्य घटत्वप्रसक्तिरिति प्रतिनियतस्वरूपाभावादवाच्यः, अथ यो घटः स उपयोग इत्युच्येत तथाप्युपयोगस्यार्थत्वप्रसक्तिरित्युपयोगाभावे घटस्याप्यभावः ततश्च कथं नाऽवाच्यः १६ ॥

तदिदमभिप्रेत्योक्तं **सम्मतौ**—"अत्थंतरभूएहि य, णियएहि य दोहि समयमाईहिं ॥ वयणविसेसाईअं, दव्वमवत्तव्वयं पडइ ॥१–३६॥" **अस्यार्थः—अर्थान्तरभूतैर्निजकैश्च** पर्यायैः क्रमेण स्यात् सन् स्यादसन्निति द्वौ भङ्गौ भवत इति शेषः । **द्वाभ्यां** चादिभ्यां प्रागुक्ताभ्यां प्रकाराभ्यां, **समकं** युगपद्विवक्षितमिति शेषः, **द्रव्यं वचनविशेषातीतं** सत्तथाविधवचनवाच्यताऽनापन्नं सद्, **अवक्तव्यकं पतति** तृतीयभङ्गविषयतामास्कन्दतीति ॥ अत्र च निजार्थान्तरपर्यायैरनेकान्तोपजीविनैगमव्यवहारविशुद्धतारतम्योपदर्शकवसतिदृष्टान्तनीत्या यथाक्रमसङ्कुचद्भिः क्रमेण युगपच्चादिष्टैरुपदर्शितेषु षोडशस्ववक्तव्यवि-

सप्तभङ्ग्यां तृतीयभङ्ग-तत्त्वनिर्णयाय कृतेषु षोडशविकल्पेषु चतुर्दशपञ्चदशषोडशविकल्पोपपादनं तत्र च सम्मतिमहाशास्त्रसंवादः ॥

नयभेददर्शक वसतिदृष्टान्तवद्यथाक्रमसङ्कुचत्सु विकल्पेषु भङ्गावतारः अनेकान्ते-दोषप्रदर्शकपशुपालीयमतनिरसनञ्च॥

कल्पेषु मध्ये एकादशसु त्रयोऽपि भङ्गाः सम्भवन्ति, द्वादशादिषु पञ्चसु च स्वतन्त्रैकान्ते नयार्पितैस्तैः प्रत्येकं समुदाये च सर्वथाऽवक्तव्यत्वभङ्ग एवोत्तिष्ठते, स च बाधितः सन् कथञ्चिदवक्तव्यत्वे पर्यवस्यति, तस्य कथञ्चित्त्वं च भङ्गद्वयाधीनं, इत्थं च त्रयाणां भङ्गानां क्रमाभिधानमेव सम्प्रदायसिद्धमिति ॥ व्युत्पत्तिमहिम्ना ततोऽपि स्याद्वादविदुषो भङ्गत्रयसम्भव इति विवेकः, इत्थं च यत्पशुपालेनोक्तं—"सर्वत्रानेकान्ताभ्युपगमे 'सर्वमस्ति स्वरूपेण, पररूपेण नास्ति च ।' इति वचनमेवानुपपन्नं, स्वपररूपयोरप्यनिर्धारणादिति," तदपास्तं द्रष्टव्यं, पूर्वं नयविशेषेण स्वपररूपयोः सङ्कोचविकासावुपजीव्य तदनुसारेणैव सप्तभङ्गीप्रवृत्तेः, अवच्छिन्नसप्रतिपक्षधर्मद्वयाभिधानस्थले एकान्ततोऽवच्छेदकनिर्णयस्य तत्राप्यभावात्, इदानीं गोष्ठे गौर्न तु वाजिशालायामित्यादौ शुद्धगोष्ठादेरप्यवच्छेदकत्वस्य निर्णेतुमशक्यत्वात्, इह कोणे गोष्ठे गौर्नापरकोणे इति प्रतिसन्धाने एतत्कोणावच्छिन्नगोष्ठस्यैतत्कोणस्य वा तथात्वसम्भवादवच्छेदकावच्छेदकस्याऽवच्छेदकसङ्कोचस्य वाऽपरिस्फूर्तौ शुद्धावच्छेदकपुरस्कारेण तत्परिस्फूर्तौ तु सावच्छिन्नप्रकृतावच्छेदकपुरस्कारेणैव प्रतिनियतदेशदेशावच्छेदेन वा निर्णयस्त्वावयोः समानः, देशदेशस्य नावच्छेदकत्वमिति तु नीलपीतकपालिकास्थकपालसमवेतघटनीलप्रत्यक्षान्यथानुपपत्त्या परेण वक्तुमशक्यं, तत्र नीलकपालिकावच्छिन्नचक्षुःसंयुक्तसमवायसम्बन्धावच्छिन्नाधारतयैव घटे नीलप्रत्यक्षोपपादनात्, इयांस्तु विशेषः, यत्परेषां देशदेशस्यावच्छेदकत्वं स्वाभाविकसम्बन्धविशेषेण, अस्माकं तु वैज्ञानिकसम्बन्धविशेषेण, तत्र परेषां परम्परासम्बन्धेन गोष्ठकोणस्य साक्षात्सम्बन्धेन च कोणावच्छिन्नगोष्ठस्य गवावच्छेदकत्वमिति कोणे गौर्न तु गोष्ठे इति सूक्ष्मेक्षिकानुपपत्तिः, अस्माकं तु मध्यमनैगमभेदकृतवैज्ञानिकसम्बन्धेन गोष्ठकोण एव तथात्वं न तु गोष्ठ इति तदुप-

पत्तिः, न च कोणे गौर्न तु गोष्ठ इति सूक्ष्मेक्षिका न भवत्येव, किन्तु न तु सम्पूर्णगोष्ठ इत्येव, सा च यावत्कोणेषु गवावच्छेदकतावच्छेदकत्वपर्याप्त्यभावमवगाहत इति परेषामपि नानुपपत्तिरिति वाच्यम्, एवं सति सम्पूर्णकोणेऽपि तदभावात्कोणे गोष्ठे गौरित्यस्याप्यनुपपत्तेर्नयविशेषकृतसम्बन्धं विना न विचित्रप्रतीत्युपपत्तिरित्यधिकं नयरहस्यादौ ॥

एते च त्रयो भङ्गा गुणप्रधानभावेन सकलधर्मात्मकैकवस्तुप्रतिपादकाः सन्तः सकलादेशाः स्यात्कारपदलाञ्छिते तद्वाक्याद्विवक्षाकृतप्रधानभावसदाद्येकधर्मात्मकस्यापेक्षिता पराशेषधर्मक्रोडीकृतस्य वाक्यार्थस्य प्रतीतेः॥ विवक्षाविरचितद्वित्रिधर्मानुरक्तस्य स्यात्कारपदसंसूचितसकलधर्मस्वभावस्य धर्मिणो वाक्यार्थस्य प्रतिपादका वक्ष्यमाणास्तु चत्वारो विकलादेशा इति केचित्सङ्गिरन्ते ॥ ते चेमे स्यादस्तिनास्ति च घट इति प्रथमो विकलादेशः १। स्यादस्त्यवक्तव्यश्च घट इति द्वितीयः २। स्यान्नास्ति चावक्तव्यश्च घट इति तृतीयः ३। स्यादस्ति च नास्ति चावक्तव्यश्च घट इति चतुर्थः ४॥ तत्र वस्तुनो देशो यदैकः सत्त्वेऽपरश्चासत्त्वे आदिश्यते तदा प्रथमो विकलादेशः॥ आह च —"अह देसो सब्भावे, देसोऽसब्भावपज्जवे णियओ ॥ तं दवियमत्थि णत्थि य, आएसविसेसियं जम्हा ॥ १-३७ ॥" अस्यार्थः—यदा देशो वस्तुनोऽवयवः, सद्भावेऽस्तित्वे, नियतः सन्नेवायमित्येवं निश्चितः, अपरश्च देशोऽसद्भावपर्याये नास्तित्व एव नियतोऽसन्नेवायमित्यवगतः, अवयवेभ्योऽवयविनः कथञ्चिदभेदादवयवधर्मैस्तस्यापि तथा व्यपदेशो, यथा 'कुण्ठो देवदत्त इति' ततोऽवयवसत्त्वासत्त्वाभ्यामवयव्यपि सदसन् सम्भवति, ततस्तद्द्रव्यमस्ति च नास्ति चेति भवति, आदेशेन उभयप्रधानावयवभागेन विशेषितं यस्मात्॥ तथाहि, यदवयवेन विशिष्टधर्मेण आदिश्यते तदस्ति च नास्ति च भवति, तथा स्वद्रव्यक्षेत्रकालभावैर्विभक्तो

सप्तसु भङ्गेष्वभिप्रायान्तरेण त्रयाणां सकलादेशत्वं चतुर्णां विकलादेशत्वं च प्रदर्शितं तत्र प्रथमविकलादेशसमर्थनञ्च ॥

हि घटोऽस्ति परद्रव्यादिरूपेण च स एव नास्तीति । आद्ययोरपि भङ्गयोः स्वद्रव्यपरद्रव्याभ्यां विभज्यत एव घट इति तत्समुदायात्कोऽस्य विशेष इति चेत्, न, तत्रास्तित्वनास्तित्वावच्छेदकद्वारा विभागेऽप्यवयवद्वारा विभागाभावात्, अत्र तु तद्द्वारा विभागेन विशेषात् । तद्द्वारा विभागकरण एव किं बीजमिति चेत्?, सावयवनिरवयवात्मकवस्तुनस्तथाप्रतिपत्तिजनकसावयवनिरवयवत्वशबलैकस्वरूपवाक्यत्वेन प्रामाण्यरक्षार्थमिति दिक् ४ ॥ एकस्य देशस्य सत्त्वेनाऽपरस्य च युगपदुभयथादेशे द्वितीयो विकलादेशः । आह च—"सब्भावे आइट्ठो, देसो देसो य उभयहा जस्स ॥ तं अत्थि अवत्तवं, च होइ दवियं विअप्पवसा ॥१-३८॥" अस्यार्थः—सद्भावेऽस्तित्वे, यस्य घटादेर्धर्मिणः, देशो धर्मः, आदिष्टोऽवक्तव्यानुविद्धः, स्वभावे, अन्यथा तदसत्त्वात्, न ह्यपरधर्माऽप्रविभक्ततामन्तरेण विवक्षितधर्मास्तित्वमस्य सम्भवति, खरविषाणादेरिव, तस्यैवापरो देश उभयथास्तित्वनास्तित्वप्रकाराभ्यामेकदैव विवक्षितोऽस्तित्वानुविद्ध एवावक्तव्यस्वभावे, अन्यथा तदसत्त्वप्रसक्तेः, न ह्यस्तित्वाभावे उभयाविभक्तता शशशृङ्गादेरिव तस्य सम्भविनी, प्रथमतृतीयकेवलभङ्गव्युदासस्तथाविवक्षावशादत्र कृतोऽत्र द्रष्टव्यः, तत्र प्रथमतृतीययोर्भङ्गयोः परस्पराविशेषणीभूतयोः प्रतिपाद्येनाधिगन्तुमिष्टत्वात्, प्रतिपादकेनापि तथैव विवक्षितत्वाद्, अत्र तु तद्विपर्ययादनन्तधर्मात्मकस्य धर्मिणः प्रतिपाद्यानुरोधेन तथाभूतधर्माक्रान्तत्वेन वक्तुमिष्टत्वात्तद्द्रव्यमस्ति चावक्तव्यं च भवति, तद्धर्मविकल्पवशाद्धर्मयोस्तथापरिणतयोस्तथा व्यपदेशे धर्म्यपि तद्द्वारेण तथैव हि व्यपदिश्यते, अत्रेदमवधेयं परस्परविशेषणीभूतयोरस्तित्वावक्तव्यत्वयोरत्र न विवक्षा, चैत्रो रक्तदण्डवानितिवत् स्यादस्त्यवक्तव्यश्च घट इत्यतोऽस्तित्वविशिष्टाऽवक्तव्यत्ववान् घट इत्यबोधात्, किन्तु चकार-

विकलादेशत्वेनाभिप्रेतेषु भङ्गेषु द्वितीयविकलादेशोपपादनं तत्र च सम्मतिमहाशास्त्र संवादः ॥

॥ ७० ॥

बलाद् 'एकत्र द्वयम्' इति न्यायेन विदेशे दण्डी कुण्डली चेत्यत्र चैत्रे दण्डकुण्डलयोरिव प्रकृते घटेऽस्तित्वाऽवक्तव्यत्वयोः परस्पराऽविशेषणीभूतयोरेव भानात् । एकत्र द्वयमाने द्वयोः सामानाधिकरण्येन वैशिष्ट्यमप्यौत्सर्गिकं भासत इति चेत्, तर्हि सम्भूयभङ्गद्वयजनितबोधेऽपि तद्भानमावश्यकमिति कस्ततो विशेषः । वस्तुतो मिलिताभ्यां प्रथमतृतीयाभ्यामस्तित्वविशिष्टे घटेऽवक्तव्यवैशिष्ट्यज्ञानं सुकरं, द्वितीयमिलनस्यापि 'अधिकं प्रविष्टं(ष्टे) न तु तद्धानिः' इति न्यायेनादुष्टत्वात्, प्रकृते तु 'एकत्र द्वयम्'इति न्यायेनापि न बाधो देशेऽसत्त्वस्य देशेऽवक्तव्यत्वस्य च विवक्षणादिति विपरीतो विशेषः, परस्परविशेषणीभूतयोरेकवाक्येन बोध्यत्वप्रकारकतात्पर्यविषयतया तु विशेषो न भङ्गान्तरनिमित्तं फलाविशेषात्, अन्यथा विशेषणविशेष्यभावकामचारस्यापि तथात्वप्रसङ्गात्, तथापि देशविशेषितपरस्परविशेषणविशेष्यभावेनात्र विशेषो द्रष्टव्यः, प्रकृतेऽस्त्यवक्तव्यपदयोर्देशास्तित्वविशिष्टदेशावक्तव्यत्वविशिष्टयोरेव तात्पर्यानुपपत्त्या लक्षणास्वीकारात्, तयोश्च तादात्म्येन वैशिष्ट्यबाधस्यैतद्भङ्गफलत्वात्, अयमेव परस्परानुवेधार्थोऽपि द्रष्टव्यः, चतुर्थभङ्गेऽप्युभयप्रधानावयवभागेनैव विशेषोपदेशादत्राग्रेऽपि तस्यैव विशेषस्याऽविशिष्टत्वादिति दिग् ५ । देशेऽसत्त्वस्य देशे च युगपदुभयोर्विवक्षणे षष्ठः, आह च—"आइट्ठोऽसब्भावे, देसो देसो य उभयहा जस्स ॥ तं णत्थि अवत्तव्वं, च होइ दविर्यं वियप्पवसा ॥१-३९॥" अस्यार्थः—यस्य वस्तुनो, देशोऽसत्त्वे आदिष्टोऽसन्नेवायमित्यवक्तव्यानुविद्धो विवक्षितोऽपरश्चासदनुविद्धः, उभयथा सदसत्त्वाभ्यामादिष्टस्तदा तद्द्रव्यं नास्ति चावक्तव्यं च भवति विकल्पवशात्, तद्व्यपदेश्यावयवाभेदोपचारात् द्रव्यस्यापि तद्व्यपदेशासादनात्, देशानुपरक्तद्वितीयतृतीयभङ्गव्युदासेनायं षष्ठो भङ्गः प्रवर्तते ६ । देशेऽस्तित्वस्य देशे नास्तित्वस्य देशे च युग-

अवशिष्टविकलादेशभङ्गसमर्थनं तत्रास्त्यवक्तव्यपदयोर्लक्षणया देशविशिष्टत्वार्थे तात्पर्योपपादनम् ॥

पदुभयोर्विवक्षायां सप्तमः॥ आह च—"सब्भावासब्भावे, देसो देसो य उभयहा जस्स ॥ तं अत्थि णत्थि अवत्त-व्वयं च दवियं विअप्पवसा ॥१-४०॥" अस्यार्थः, यस्य देशिनो, देशोऽवयवो, देशो धर्मो वा, सद्भावे सत्त्वे नियतोऽपरस्त्वसद्भावेऽसत्त्वे, तृतीयस्तूभयथेत्येवं देशानां सदसदवक्तव्यव्यपदेशात्तदपि द्रव्यमस्ति च नास्ति चावक्तव्यं च भवति विकल्पवशात्, तथाभूतविशेषणाध्यासितस्य द्रव्यस्यानेन प्रतिपादनादपरभङ्गव्युदासः ॥ एते च परस्पररूपापेक्षया सप्तभङ्ग्यात्मकाः प्रत्येकं स्वार्थं प्रतिपादयन्ति नान्यथेति प्रत्येकं तत्समुदायो वा सप्तभङ्गात्मकः प्रतिपाद्यमपि तथाभूतं दर्शयतीति सम्प्रदायविदो वदन्ति ॥ तत्र जिज्ञासितसप्तधर्मात्मकताप्रतिपादकत्वपर्याप्त्यधिकरणमहावाक्यत्वरूपसप्तभङ्गीत्वं समुदाय एव निरुक्तप्रतिपादकत्वाधिकरणवाक्यत्वरूपं च तत्प्रत्येकमपीति विवेकः, अत एव स्यात्पदलाञ्छनविवक्षितधर्मावधारकत्वेन स्वार्थमात्रप्रतिपादनप्रवणत्वेन च द्विधा सुनयत्वमुदाहरन्ति, आद्यं सप्तभङ्ग्यात्मकमहावाक्यैकवाक्यतापन्नवाक्ये, अन्त्यं चोदासीने धर्मान्तरोपादानप्रतिषेधाकारिणि, इत्थं च स्यादस्तीत्यादि प्रमाणम्, अस्त्येवेत्यादि दुर्नयः, अस्तीत्यादिकः सुनयः, न तु स व्यवहाराङ्गं, स्यादस्त्येवेत्यादिस्तु सुनय एव व्यवहारकारणं, स्वपरानुवृत्तव्यावृत्तवस्तुविषयप्रवर्त्तकवाक्यस्य व्यवहारकारणत्वादिति ग्रन्थकृतो विवेचयन्ति ॥ अत्र सप्तभङ्ग्यामाद्यभङ्गस्त्रिधा, द्वितीयोऽपि त्रिधा, तृतीयो दशधा, चतुर्थोपि दशधैव, पञ्चमादयस्तु त्रिंशदधिकशतपरिमाणाः प्रत्येकं श्रीमन्मल्लवादिप्रभृतिभिर्दर्शिताः ॥

पुनश्च षट्त्रिंशदधिकचतुर्दशशतपरिमाणास्त एव च द्व्यादिसंयोगकल्पनया कोटिशो भवन्तीत्यभिहितं तैरेवेति तद्विस्तरस्तद्ग्रन्थादेवावसेयः ॥ अथानन्तधर्मात्मके वस्तुनि तत्प्रतिपादकवचनस्य सप्तधा कल्पनेऽष्टमनवमविकल्पयोः कल्पनमपि

महावाक्यादेव सुनयत्वं प्रमाण-सुनय-दुर्नय-स्वरूपं ससप्तभङ्गेष्ववान्तरभेदैः कोटिशोविभागप्रदर्शनञ्च ॥

किं न क्रियत इति चेत्?, न, तत्परिकल्पननिमित्ताभावात्, तथाहि, न तावत्सावयवात्मकमन्योन्यनिमित्तकं तत्परिकल्पयितुं युक्तं, चतुर्थादिवचनविकल्पेषु तस्यान्तर्भावप्रसक्तेः, नापि निरवयवात्मकमन्योन्यनिमित्तकं तत्परिकल्पनामर्हति, प्रथमादिष्वन्तर्भावप्रसक्तेः, न च गत्यन्तरमस्तीति नाष्टमभङ्गकल्पना युक्ता । किं चासौ क्रमेण वा तद्धर्मद्वयं प्रतिपादयेद्यौगपद्येन वा, प्रथमपक्षे गुणप्रधानभावेन तत्प्रतिपादने प्रथमद्वितीययोरन्तर्भावः, प्रधानभावेन तत्प्रतिपादने चतुर्थे, यौगपद्येन तत्प्रतिपादने तृतीये, भङ्गकसंयोगेन भङ्गान्तरकल्पनायां प्रथमद्वितीयसंयोगे चतुर्थ एव प्रसज्यते, प्रथमतृतीयसंयोगात्पञ्चमः, द्वितीयतृतीयसंयोगात्षष्ठः, प्रथमद्वितीयतृतीयसंयोगात्सप्तमः, प्रथमचतुर्थादिसंयोगकल्पना तु पौनरुक्त्यभयादनुत्थानोपहता । न च देशिदेशभेदेन धर्मिभेदादपौनरुक्त्यं, प्रथमचतुर्थसमाजादेतादृशप्रतीतिसिद्धौ तत्संयोगस्य निराकाङ्क्षत्वात्, तस्मान्न कथञ्चिदष्टमभङ्गसम्भव इति नाधिक्यं, न चावक्तव्यत्वसप्तभङ्ग्यां तृतीयभङ्गस्य प्रथमभङ्गाद्वक्तव्यत्वसप्तभङ्ग्यां च द्वितीयभङ्गादविशेषान्न्यूनत्वमपि शङ्कनीयं, तत्रांशांशग्राहकधर्मेणावक्तव्यत्ववक्तव्यत्वयोरेव प्रथमद्वितीयभङ्गार्थत्वादंशावक्तव्यत्ववक्तव्यत्वतद्विपर्ययाभ्यामवक्तव्यस्यैव तृतीयभङ्गार्थत्वादिति दिग् । इत्थमुक्तन्यायेन वस्तुप्रतिपादने सप्तविध एव वचनमार्ग इति स्थितम् । अत्रैवं नयविभागमुपदिशन्ति श्रीसिद्धसेनदिवाकरपादाः—"एवं सत्तवियप्पो, वयणपहो होइ अत्थपज्जाए ॥ वंजणपज्जाए पुण, सवियप्पो णिव्वियप्पो य ॥१-४१॥" अस्यार्थः, एवमनन्तरोक्तप्रकारेण, सप्तविकल्पः सप्तभेदः, वचनपथो भवत्यर्थपर्यायेऽर्थनये सङ्ग्रहव्यवहारर्जुसूत्रलक्षणे, सप्ताप्यनन्तरोक्ता भङ्गका भवन्ति ॥ तत्र प्रथमो भङ्गः सङ्ग्रहे सामान्यग्राहिणि, नास्तीत्ययं तु व्यवहारे विशेषग्राहिणि, ऋजुसूत्रे तृतीयः, चतुर्थः सङ्ग्रहव्यवहारयोः,

सप्तसु भङ्गेष्वेव सर्वविकल्पानां समवतारान्नाधिककल्पनमित्युपपादितं, भङ्गानां नयसमवतारश्च सम्मतिसंवादेन दर्शितः ॥

पञ्चमः सङ्ग्रहर्जुसूत्रयोः, षष्ठो व्यवहारर्जुसूत्रयोः, सप्तमः सङ्ग्रहव्यवहारर्जुसूत्रेष्विति विभागः ॥ अत्र यद्धर्मप्रकारकः सङ्ग्रहाख्यो बोधः प्रथमभङ्गफलत्वेनाभिमतस्तद्धर्माभावप्रकारको व्यवहाराख्यबोध एव द्वितीयभङ्गफलत्वेनैष्टव्यः, तेन स्याद्घटः स्यान्नीलघट इत्यादिसामान्यविशेषसङ्ग्रहव्यवहाराभ्यां न सप्तभङ्गीप्रवृत्तिरित्यवधेयम् ॥ अथ तृतीयभङ्गस्य ऋजुसूत्रनिमित्ततायां किं बीजं युगपत्सत्त्वासत्त्वाभ्यामादिष्टं हि सङ्ग्रहव्यवहारावप्यवक्तव्यमेव ब्रूतः, सङ्ग्रहव्यवहारौ युगपदुभयथाऽऽदिशत एव, नेति चेत्, ऋजुसूत्रोऽपि कथं तथाऽऽदिष्टुं प्रगल्भतां, मध्यमक्षणरूपायाः सत्तायास्तेनाप्यभ्युपगमात् । सङ्ग्रहाभिमतयावत्सजातीयविशेषानुवृत्तसामान्यानभ्युपगमादृजुसूत्रेणावक्तव्यत्वभङ्ग उत्थाप्यत इति चेत्, सोऽयं प्रत्येकावक्तव्यत्वकृतोऽवक्तव्यत्वभङ्गः, तदुत्थापने च सङ्ग्रहोपि समर्थः, ऋजुसूत्राभिमतमध्यमक्षणरूपसत्तानभ्युपगन्त्रा तेनापि तदुत्थापनस्य सुकरत्वादितिचेत्, अत्रेदमाभाति—सङ्ग्रहव्यवहारौ युगपन्नोभयथादेष्टुं प्रगल्भेते, स्वानभिमतांशादेशेऽनिष्टसाधनत्वप्रतिसन्धानात्, ऋजुसूत्रस्य तु वर्तमानपर्यायमात्रग्राहिणस्तिर्यगूर्ध्वतास्पदाधारांशान्यतररूपसामान्यान्यापोहरूपविशेषौ च सांवृतावेवेति तदपेक्षया युगपदुभयथाऽऽहार्यतदादेशसम्भवादवक्तव्यभङ्गोत्थानमनाबाधम्, न चैवमपि तज्जनितबोधस्य प्रसङ्गरूपत्वाद्विपर्ययपर्यवसाने सङ्ग्रहव्यवहारान्यतरसाम्राज्यमिति वाच्यं, विषयाबाधे कूटलिङ्गजानुमितेरिव प्रकृतभङ्गजबोधस्य प्रमात्वेन विपर्ययपर्यवसानकदर्थनानवकाशाद् ॥ अधिकं बहुश्रुता विदन्ति । व्यञ्जनपर्याये शब्दनये पुनः सविकल्पः प्रथमे पर्यायशब्दवाच्यताविकल्पसद्भावेऽप्यर्थस्यैकत्वात्, द्वितीयतृतीययोर्निर्विकल्पकश्च, द्रव्यार्थात्सामान्यलक्षणान्निर्गतस्य पर्यायरूपस्य विकल्पस्याभिधायकत्वात्तयोः, समभिरूढस्य पर्यायभेदभिन्नार्थत्वात्, एवम्भूतस्यापि

भङ्गानां नयसमवतारोपपादनं अर्थव्यञ्जनपर्यायभेदेन वचनमार्गस्य सप्तविधत्वं विकल्पकत्वनिर्विकल्पकत्वेच ॥

॥ ७२ ॥

विवक्षितक्रियाकालार्थत्वात्, तथा च घटो नाम घटवाचकयावच्छब्दवाच्यः शब्दनयेऽस्त्येव, समभिरूढैवम्भूतयोर्नास्त्येवेति द्वौ भङ्गौ लभ्येते, लिङ्गसंज्ञाक्रियाभेदेन भिन्नस्यैकशब्दावाच्यत्वाच्छब्दादिषु तृतीयः, प्रथमद्वितीयसंयोगे चतुर्थः, तेष्वेव चानभिधेयसंयोगे पञ्चमषष्ठसप्तमा वचनमार्गा भवन्ति ॥ अथवाऽन्यथास्याः व्याख्यातात्पर्यं, अर्थनय एव सप्त भङ्गाः ॥

शब्दादिषु तु त्रिषु नयेषु प्रथमद्वितीयावेव भङ्गौ ॥"यो ह्यर्थमाश्रित्य वक्तृस्थः सङ्ग्रहव्यवहारर्जुसूत्राख्यः प्रत्ययः प्रादुर्भवति सोऽर्थनयः," अर्थवशेन तदुत्पत्तेरर्थं प्रधानतयाऽसौ व्यवस्थापयतीति कृत्वा, शब्दं तु स्वप्रभवमुपसर्जनतया व्यवस्थापयति, तत्प्रयोगस्य परार्थत्वात् । "यस्तु श्रोतरि शब्दश्रवणादुद्गच्छति शब्दसमभिरूढैवम्भूताख्यः प्रत्ययस्तस्य शब्दः प्रधानं तद्वशेन तदुत्पत्तेः, अर्थस्तूपसर्जनं तदुत्पत्तावनिमित्तत्वात्स शब्दनय" उच्यते, तत्र वचनमार्गः सविकल्पकनिर्विकल्पतया द्विविधः, सविकल्पं सामान्यं, निर्विकल्पः पर्यायः, तदभिधानाद्वचनमपि तथा व्यपदिश्यते, तत्र शब्दसमभिरूढौ संज्ञाक्रियाभेदेऽप्यभिन्नमर्थं प्रतिपादयत इति तदभिप्रायेण सविकल्पो वचनमार्गः प्रथमभङ्गकरूपः, एवम्भूतस्तु क्रियाभेदाद्भिन्नमेवार्थं तत्क्षणे प्रतिपादयतीति निर्विकल्पो द्वितीयभङ्गरूपस्तद्वचनमार्गः, अवक्तव्यभङ्गस्तु व्यञ्जननये न सम्भवत्येव, यतः 'श्रोत्रभिप्रायो व्यञ्जननयः', स च शब्दश्रवणादर्थं प्रतिपद्यते, न शब्दाश्रवणात्, अवक्तव्यं तु शब्दाभावविषय इति नावक्तव्यभङ्गको व्यञ्जनपर्याये सम्भवतीत्यभिप्रायवता व्यञ्जनपर्याये तु सविकल्पकनिर्विकल्पौ प्रथमद्वितीयावेव भङ्गावभिहितावाचार्येणेति टीकाकृतो व्याचक्षते । अत्र वक्तरि यत्सप्तभङ्ग्यर्थज्ञानं तन्मानसोत्प्रेक्षोपनीतपदार्थसंसर्गभानरूपं, श्रोतरि तु शाब्दमेव तत् सम्भवति, अवक्तव्यं तु न शब्दविषयः किन्तु शब्दाभावविषय इति यद्व्यञ्जननयतात्पर्यमुन्नीतं तत्कथं सङ्गच्छते ?, शब्दाभावस्या-

शब्दादिषु नयेषु सप्तभङ्ग्याभङ्गविभजनं, अर्थनयशब्दनयलक्षणं, तयोर्भङ्गविचारणा च॥

प्रमाणत्वेन कस्याप्यर्थस्य तदविषयत्वात्, कथञ्चिन्मते शब्दानुपलब्धेः शब्दाभावविषयप्रमाणत्वेऽपि तां विना तद्विषयं विलक्षणं ज्ञानं माजनि, अवक्तव्यपदाद्वक्तव्यत्वाभावविषयशाब्दबोधोत्पत्तौ किं बाधकं, न हि भावविषयक एव शाब्दबोधो भवति, न त्वभावविषयक इत्यत्र प्रमाणमस्ति, पदज्ञानादिकार्यतावच्छेदककोटौ भावशाब्दत्वप्रवेशे गौरवात्, घटो नास्तीत्यादेर्घटाभावादिबोधस्य सार्वजनीनत्वाच्च । तत्रापि नञ उपसर्गवद्द्योतकतया तात्पर्यग्राहकत्वमात्रमेव घटपदस्य घटप्रतियोगिके लक्षणाध्रौव्येऽभावान्तर्भाविनैव तस्यायुक्तत्वादिति चेत्, न, न नघट इत्यत्रैकस्माद् घटपदाद् घटत्वघटाभावाभावत्वाभ्यामेकदा शक्तिलक्षणाभ्यां बोधासम्भवेन नञः पृथक्शक्तिकल्पनावश्यकत्वाद्, द्योतकत्वपक्षेऽपि घटो नास्तीत्यादिवाक्यरीत्यैव स्यादवक्तव्यो घट इत्यतोऽवक्तव्यत्वबोधाप्रतिरोधाच्च, तस्मान्नायं प्राञ्जलः पन्थाः, किं तु कथञ्चिदवक्तव्यत्वमिह 'एकपदजन्यप्रातिस्विकधर्मद्वयावच्छिन्नविषयकशाब्दबोधाविषयत्वम्,' तद्बोधनं त्वर्थनये मानसोत्प्रेक्षोपस्थितखण्डशःप्रसिद्धपदार्थासंसर्गाग्रहमात्रात्कथञ्चित्संसर्गग्रहाद्वा सम्भवति, व्यञ्जननये तु तन्न सम्भवति "असतो णत्थि णिसेहो" इत्यादि भाष्यकृद्वचनादुक्तविशिष्टप्रतियोगिनोऽसिद्ध्या तदभावस्याप्यसिद्धत्वात्पदार्थमर्यादया वाक्यार्थमर्यादया वा बोधयितुमशक्यत्वात् । न च स्यात्पदसमभिव्याहृतावक्तव्यपदात्प्रकृते खण्डशःशक्त्या बोधः सम्भवति, एकपदार्थयोः परस्परमन्वयबोधस्याव्युत्पन्नत्वात्, अन्यथा हरिपदादुपस्थितयोः सिंहकृष्णयोराधाराधेयभावसम्बन्धेनान्वयबोधप्रसङ्गादिति सूक्ष्मेक्षिकामनुसरता व्यञ्जननयेन प्रकृते नञ्व्यत्यासादेकपदाजनितप्रातिस्विकधर्मद्वयावच्छिन्नविषयकशाब्दबोधविषयत्वं स्यादवक्तव्यत्वं वाच्यं,तच्च भङ्गद्वयार्थमादाय पर्यवस्यतीति व्यञ्जननये द्वावेव भङ्गाविति व्याख्यातृतात्पर्यं सुष्ठु घटामटाट्यते॥ देश-

कुतश्चतुर्भङ्ग(ताश्चत्वारो भङ्गा)स्तु व्यञ्जननयेन शुद्धेन देशव्यतिरिक्तदेशाभावादेव नोद्भावनार्ह(र्हा)इति विभावनीयं सुधीभिः॥
इति बुधहितहेतोर्दर्शिताः सप्त भङ्गा, जिनवचनसमुद्रोत्तुङ्गगङ्गातरङ्गाः ॥
दलितकुनयवादं निर्विशेषं मया श्री-नयविजयगुरूणां प्राप्य पूर्णप्रसादम् ॥ १ ॥

तदेवं सप्तभङ्गीमङ्गीकुर्वाणमनेकान्तात्मकमेव वस्तु नयप्रमाणात्मकचैतन्यगोचरः, सदृशासदृशपर्यायाभ्यामेकान्तसदसद्विलक्षणस्य जात्यन्तरात्मकस्यैव घटादेरनुभूयमानत्वात्, येऽपि सदृशपर्यायास्तेऽपि सद्द्रव्यपृथिव्यादिवचनप्रतिपाद्या व्यञ्जनपर्यायाः, न तु ऋजुसूत्राभिमता अर्थपर्यायाः, अन्योन्यव्यावृत्तवस्तुस्वलक्षणग्राहकत्वात्तस्य । न च सामान्यमात्रस्य न शब्दवाच्यत्वं, शब्दादप्रवृत्तिप्रसक्तेः, सामान्यस्यार्थक्रियाऽक्षमत्वात्, सामान्यप्रतिपादनद्वारा लक्षणयाऽनुमानतो वाऽर्थक्रियाक्षमस्य विशेषस्य प्रतिपत्तेश्च क्रमप्रतिपत्तेरसंवेदनेन वक्तुमशक्यत्वात्, नापि विशेषाणां शब्दवाच्यत्वमानन्त्यात्सङ्केतासम्भवात्, किन्तूभयात्मकं वस्तु गुणप्रधानभावेन शब्दवाच्यं, तच्चार्थपर्यायरूपमेवेति कुतस्तद्विलक्षणव्यञ्जनपर्यायसिद्धिर्यदपेक्षया सत्त्वमुच्येतेति शङ्कनीयम्, केषुचिदेवार्थधर्मेषु शब्दवाच्यतापरिणत्यभ्युपगमादाख्यातुमशक्यत्वेऽपि प्रत्याख्यातुमशक्यानां माधुर्यविशेषादीनां बहूनामर्थधर्माणामनुभवसिद्धत्वात्, अत एव "प्रज्ञापनीया भावा अप्रज्ञापनीयानामनन्तभाग एव" इति सिद्धान्तव्यवस्था, तेनार्थपर्यायवैलक्षण्यं व्यञ्जनपर्यायेषु नाप्रामाणिकम्, अवश्यं चैतदभ्युपगन्तव्यम्, अन्यथाऽदृष्टदशरथादीनामिदानीन्तनानां तदीयार्थपर्यायापरिज्ञानाद्दशरथादिपदाच्छाब्दबोधो न स्यादित्यधिकमनेकान्तवादप्रवेशे ॥

ततः सदृशव्यञ्जनपर्यायैरेव सर्वमस्ति न त्वन्यैरित्ययमनेकान्त एव व्यवस्थितः, तदिदमुक्तं "परपज्जवेहिं विसरि—सगमेहिं

अनेकान्तात्मकवस्तुन एव नयप्रमाणविषयत्वं, व्यञ्जनपर्यायार्थपर्यायविषयभेदेन तयोर्भेदनिष्टङ्कनम् ॥

णियमेण णिच्चमवि णत्थि ॥ सरिसेहि वि वंजणओ, अत्थि, ण पुण अत्थपज्जाए ॥३-५॥" विसदृशगमैर्विजातीयज्ञानग्राह्यैः।

नन्वेवमपि प्रत्युत्पन्नपर्यायेणास्तित्वनियमेऽप्येकान्तवादापत्तिरिति चेत्, अत्राहुः—"पच्चुप्पण्णंमि वि प-ज्जयंमि भयणागइं पडइ दव्वं ॥ जं एगगुणाईया, अणंतकप्पा गम(गुण)विसेसा ॥३-६॥" प्रत्युत्पन्नेऽपि वर्तमानेऽपि, पर्याये, स्वपररूपतया सदसदात्मिकां मध्योर्ध्वादिरूपेण च भेदाभेदात्मिकां भजनागतिं विकल्पपद्धतिं, पतत्यासादयति, द्रव्यं, यद्यस्मात्कारणाद्, एकगुणकृष्णत्वादयोऽनन्तकल्पा अनन्तप्रकारास्तत्र गुणविशेषाः, तेषां च मध्ये केनचिदेव गुणविशेषेण युक्तं तत्, तथाहि, कृष्णं द्रव्यं तद्द्रव्यान्तरेण तुल्यमधिकमूनं वा भवेत्, प्रकारान्तराभावात्, प्रथमपक्षे सर्वथातुल्यत्वे तदेकत्वापत्तिः, तथा च नीलनीलतरादिप्रतीतिबाधः, उत्तरपक्षयोः सङ्ख्येयादिभागगुणवृद्धिहानिभ्यां षट्स्थानकप्रतिपत्तिरवश्यम्भाविनीति प्रत्युत्पन्नपर्यायेणापि भजनाऽबाधितैव ॥ स्यादेतत्, पुद्गलद्रव्यस्य तादृग्भूताऽपरपुद्गलद्रव्यापेक्षयाऽनेकान्तरूपता युक्ता, प्रत्युत्पन्ने चात्मद्रव्यपर्याये कथमनेकान्तरूपता युक्ता, मैवं, आत्मपर्यायस्यापि ज्ञानादेस्तत्तद्ग्राह्यार्थापेक्षयाऽनेकान्तरूपतायाः पुद्गलवदविरोधात्, अनेनैव हि न्यायेन सिद्धेष्वपि त्रैलक्षण्यं व्यवतिष्ठते, तथा द्रव्यकषायादिभेदादप्यात्मनः पुद्गलवदनेकान्तरूपता सिद्धान्तसिद्धैव ॥ तथा च वाचकमुख्यः (प्रशमरति) "द्रव्यं कषाययोगा–वुपयोगो ज्ञानदर्शने चैव ॥ चारित्रं वीर्यं चेत्य–ष्टविधा मार्गणा तस्य ॥१९९॥ जीवाजीवानां द्र-व्यात्मा सकषायिणां कषायात्मा ॥ योगः सयोगिनां पुन–रुपयोगः सर्वजीवानाम् ॥२००॥ ज्ञानं सम्यग्दृष्टे–र्दर्शनमथ भवति सर्वजीवानाम् ॥ चारित्रं विरतानां, तु सर्वसंसारिणां वीर्यम् ॥२०१॥ द्रव्यात्मेत्युपचारः, सर्वद्रव्येषु नयविशेषेण ॥ आत्मादेशादात्मा, भवत्यनात्मा परादेशात् ॥२०२॥ एवं

वर्तमानपर्यायेणवस्तुनः सत्त्वे परोक्तापत्तिपरिहारः सिद्धेष्वनेकान्तत्वमात्मनोऽष्टधानिरूपणेनानेकान्तत्वप्रदर्शनंच ॥

संयोगाल्पब–हुत्वाद्यैर्नैकशः स परिमृग्यः ॥ जीवस्यैतत्सर्वं, स्वतत्त्वमिह लक्षणैर्दृष्टम्॥२०३॥"इति ॥ प्रकारान्तरेणाप्यात्मनोऽनेकान्तरूपतामुपपादयति सम्मतिकारः—"कोवं उप्पायन्तो, पुरिसो जीवस्स कारओ होइ ॥ तत्तो विभइयव्वो, परंमि सयमेव भइयव्वो ॥३–७॥" कोपं कोपपरिणतिम्, उत्पादयन् पुरुषः, जीवस्य परभवप्रादुर्भावपरिणतिविशिष्टस्य, कारको निर्वर्तको भवति, तन्निमित्तिकर्मण उपादानात्, कोपपरिणाममापद्यमानश्च पुरुषः, ततः परभवजीवाद्, विभजनीयो भिन्नो व्यवस्थापनीयः, कार्यकारणयोर्मृत्पिण्डघटवत्कथञ्चिद्भेदात्, अन्यथा कार्यकारणभावाभावप्रसङ्गात्। 'वीतरागजन्मादर्शन' न्यायेनैकत्वेन सिद्धस्य जीवस्य कथं भवभेदेन भेद इति चेत्?, मृद्द्रव्यतयैकत्वेन सिद्धस्य मृत्पिण्डघटभावाभ्यामपि कथं भेदो, न हि मृत्पिण्डघटभावाभ्यां मृद इव देवमनुजभावाभ्यां जीवस्य वैलक्षण्यमप्रामाणिकमिति विभावनीयम्। न चासौ ततो भिन्न एव, यतः, परस्मिन्भवे, स्वयमेव पुरुषो, भजनीय आत्मरूपतयाऽभेदेन व्यवस्थापनीयो, घटाद्याकारपरिणतमृद्द्रव्यवदित्यनेकान्तः ॥ यद्वा कोपपरिणतिमन्यस्मिन् जीवे उत्पादयन् पुरुषः कारको भवति, ततोऽसौ कोपकारकत्वेन विभजनीयः कोपपरिणतियोग्ये जीवे कारकोऽन्यत्राकारक इति ॥ अथ द्रव्यगुणानां भेदाऽभेदानेकान्तममृष्यमाणानां मतमुत्थापयति—" रूवरसगंधफासा, असमाणग्गहणलक्खणा जम्हा ॥ तम्हा दव्वाणुगया, गुणत्ति ते केइ इच्छंति ॥ ३–८ ॥" रूपरसगन्धस्पर्शा असमानग्रहणलक्षणा यस्मात्ततो द्रव्याश्रिता गुणास्तद्भिन्ना एवेति, केचन वैशेषिकाद्याः स्वयूथ्या वा सिद्धान्ताऽनभिज्ञा अभ्युपगच्छन्ति। तथा हि गुणा द्रव्याद्भिन्ना भिन्नप्रमाणग्राह्यत्वाद्भिन्नलक्षणत्वाच्च, स्तम्भात्कुम्भवत्। न चासिद्धौ हेतू, द्रव्यस्य 'यमहमद्राक्षं तमेव स्पृशामि'इत्यनुसन्धानाच्य(द्वय)क्षग्राह्यत्वाद्, रूपादीनां च प्रतिनियतेन्द्रियप्रभवप्र-

सम्मतिपाठेनात्मनोऽनेकान्तत्वस्य प्रकारान्तरेणोपपादनं, द्रव्यगुणानां भेदाभेदाऽसहमानानां कणादादीनां मतखण्डनोपक्रमश्च ॥

त्ययावसेयत्वाद्, 'दार्शनं स्पार्शनं च द्रव्यम्' इत्याद्यभिधानादसमानग्रहणता द्रव्यगुणयोः सिद्धा । तथा विभिन्नलक्षणत्वमपि "क्रियावद्गुणवत्समवायिकारणं वा द्रव्यम्," "द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणा" इत्यादिवचनात्सिद्धम । एतन्मतं परिजिहीर्षुराह—"दूरे ता अण्णत्तं, गुणसद्द चेव ताव पारिच्छं ॥ किं पज्जवाहिए होज्ज, पज्जवे वा वि गुणसण्णा ॥३–९॥" दूरे तावद् गुणगुणिनोरेकान्तेनान्यत्वं, असम्भावनीयमिति यावत्, गुणात्मकद्रव्यप्रत्ययबाधितत्वादेकान्तेन गुणगुणिभेदस्य । न च समवायनिमित्तोऽयमभेदप्रत्ययः, तत्र प्रमाणाभावात्, न चैकत्वप्रत्ययस्य प्रागुक्तानुमानबाधा, एकत्वप्रत्ययाध्यक्षबाधितकर्मनिर्देशानन्तरं प्रयुक्तत्वेनैकशाखाप्रभवत्वानुमानस्येव तस्य कालात्ययापदिष्टत्वात्, ततो गुणगुणिनोरेकान्तान्यत्वस्यासम्भवाद्, गुणशब्द एव तावत्परीक्ष्यमस्ति, किं पर्यायादधिके गुणसंज्ञा गुणशब्दः प्रवर्तते किं वा पर्याय एव भवेत्, पर्यायानन्यत्वे कथञ्चिद्द्रव्यात्मकत्वमेवेत्यभिप्रायः । यदि च पर्यायादन्यो गुणः स्यात्तदा पर्यायार्थिकवद् गुणार्थोऽपि नयः स्यादित्यनिष्टापत्तिमाह—"दो उ णया भगवया, दव्वट्ठियपज्जवट्ठिया नियया ॥ एत्तो य गुणविसेसे, गुणट्ठियणओ वि जुज्जंतो ॥३–१०॥" द्वावेव मूलनयौ, भगवता द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकौ नियमितावितः पर्यायादधिके, गुणविशेषे ग्राह्ये सति, तद्ग्राहको गुणास्तिकनयोऽपि नियमि(मयि)तुं, युज्यमानकः स्याद्, अन्यथाऽव्यापकत्वं नयानां भवेत् ॥ न च भगवताऽसावुक्त इत्याह—"जं च पुण अरहया, तेसु तेसु सुत्तेसु गोयमाईणं ॥ पज्जवसण्णा णियया, वागरिया तेण पज्जाया ॥३–११॥

यत् पुनर्भगवता तस्मिँस्तस्मिन्सूत्रे 'वण्णपज्जवेहिं' इत्यादिना, पर्यायसंज्ञा नियमिता वर्णादिषु, गौतमादिभ्यो व्याकृता, ततः पर्याया एव वर्णादयो न गुणा इत्यभिप्रायः ॥ अथ तत्र गुण एव पर्यायशब्देनोक्तः किं न स्यादित्या-

द्रव्यगुणानामेकान्तभेदस्थापकपरोक्तहेत्वोः खण्डनं प्रसङ्गतस्तत्र तृतीयगुणार्थिकनयापत्तिप्रदर्शनञ्च ॥

दिशङ्कायामाह—" परिगमणं पज्जाओ, अणेगकरणं गुणत्ति तुल्लत्था ॥ तहवि ण गुणत्ति भण्णइ, पज्जवणयदेसणा जम्हा ॥३-१२॥ परि समन्तात्सहभाविभिः क्रमभाविभिश्च भेदैर्वस्तुनः परिणतस्य गमनं परिच्छेदो यः स पर्यायो, विषयविषयिणोरभेदादनेकरूपतया वस्तुनः करणं 'करोतेर्ज्ञानार्थत्वात्' ज्ञानं, विषयविषयिणोरभेदादेव गुणो 'गुण्यते पृथक्क्रियतेऽनेन' इति धात्वर्थानुसाराद्, इति व्युत्पत्तिनिमित्तमपेक्ष्य, तुल्यौ(ल्यार्थौ) गुणपर्यायशब्दौ, तथापि गुणा इति पर्याया न भण्यन्ते, पर्यायविशेषवाचकस्य गुणशब्दस्य पर्यायसामान्योक्तावप्रवृत्तेः, न च गुणशब्दस्य पर्यायसामान्य एव शक्तिः कल्पनीया, यस्मात् पर्यायनयद्वारेणैव भगवता देशना कृता, न तु गुणार्थिकनयद्वारा, अतो व्युत्पत्तिनिमित्ततौल्येऽपि गुणपर्यायशब्दयोः सामान्यविशेषभावापन्नप्रवृत्तिनिमित्तभेदान्न पर्यायत्वमिति । ननु पर्यायशब्दः क्रमभाविधर्मवाचक एव, गुणशब्दश्च सहभाविधर्मवाचक एव, तथा च गुणाः पर्यायेभ्योऽतिरिच्यन्ते पर्यायातिरिक्तगुणाभिधानान्यथानुपपत्त्या च गुणार्थिकनयोऽपि भगवताऽर्थादुपदिष्ट एवेत्याशङ्कते—" जंपंति अत्थि समए, एगगुणो दसगुणो अणंतगुणो ॥ रूवाइयपरिणामो, भण्णइ तम्हा गुणविसेसो ॥३-१३॥"जल्पन्ति द्रव्यगुणान्यत्ववादिनो, अस्ति विद्यत एव, सिद्धान्ते'एगगुणकालए दुगुणकालए'इत्यादिः रूपादौ व्यपदेशः, तस्माद्रूपादिपरिणामो गुणविशेष एवेत्यस्ति गुणार्थिकोऽपि नय उपदिष्टश्च भगवतेति । अत्राह सिद्धान्तवादी—"गुणसद्दमन्तरेणा-वि तं तु पज्जवविसेससंखाणं ॥ सिज्झइ णवरं संखा-णसत्थधम्मो न उ गुणो त्ति॥३-१४॥" तत्तु प्रागुक्तं वचनं, गुणशब्दमन्तरेणापि रूपाद्यभिधायकगुणशब्दं विनापि, पर्यायविशेषसंख्यानं पर्यायविशेषसंख्यावाचकं, सिध्यति, न त्वतिरिक्तगुणगुणार्थिकनयप्रतिपादनपरं, तत्र गुणशब्दस्यैतावताऽधिको न्यूनो वा भाव इति

विस्तरतो-गुणपर्याय-तत्त्वनिरूपणेन तुल्यार्थत्वस्थापनं तत्र च परोक्तसिद्धान्तपाठविरोधपरिहारश्च ॥

गणितशास्त्रधर्मवचनत्वादिति भावः ॥ दृष्टान्तद्वारेणामुमर्थं दृढीकर्तुमाह—" जह दससु दसगुणंमि य, एगंमि दसत्तणं समं चेव ॥ अहियंमि वि गुणसद्दे, तहेव एयं पि दट्ठवं ॥३–१५॥" यथा दशसु द्रव्येषु, एकस्मिन् वा द्रव्ये दशगुणिते गुणशब्दातिरेकेऽपि, दशत्वं सममेव तथैवैतदपि न भिद्यते परमाणुरेकगुणकृष्णादिरित्येकादिशब्दाधिकगुणशब्देनापि तदधिकार्थाप्रतिपादनादिति द्रष्टव्यम् । न चैवं गुणानां पर्यायानतिरेके वाचकचक्रवर्तिसूत्रं " गुणपर्यायवद्द्रव्यं" इति विरुध्यते, युगपदयुगपद्भाविपर्यायविशेषप्रतिपादनार्थत्वात्तस्य, सहभाविधर्मवाचकगुणशब्दसमभिव्याहृतस्य पर्यायशब्दस्य धर्ममात्रवाचकस्यापि 'गोबलीवर्द'न्यायेन तदतिरिक्तधर्मप्रतिपादकत्वे दोषाभावात्, न हि काल्पनिको गुणपर्याययोर्भेदो वास्तवं तदभेदं विरुणद्धि, कल्पनाबीजं च तत्र तत्र प्रदेशे व्युत्पत्तिविशेषाधानमेव ॥ अत एव—गुणाणमासओ दव्वं, एगदव्वस्सिया गुणा ॥ लक्खणं पज्जवाणं तु, उभओअस्सिया भवे ॥६॥ इत्याद्युत्तराध्ययन(अ०२८) वचनं 'दव्वनामे गुणनामे पज्जवणामे'इत्याद्यनुयोगद्वारवचनं च शिष्यव्युत्पत्तिविशेषाय काल्पनिकगुणपर्यायभेदाभिधानपरमेव, स्वाभाविकतद्भेदाभिधानपरत्वे तु गुणार्थिकनयप्रसङ्गात् । न च—' नाणदंसणट्ठयाए दुवे अहं ' इत्याद्यागम एव गुणार्थिकप्रतिपादक इति शङ्काशेषो(लेशो)ऽपि विधेयः, अनेकीकरणस्य पर्यायार्थगोचरत्वादस्येति दिक् ॥ इत्थं च यद्दिगम्बरैः परिभाष्यते " गुण्यन्ते पृथक्क्रियन्ते द्रव्यं द्रव्या(न्तरा)द्यैस्ते गुणाः, तेषु चास्तित्वं १ वस्तुत्वं २ द्रव्यत्वं ३ प्रमेयत्वं ४ अगुरुलघुत्वं ५ प्रदेशत्वं ६ चेतनत्वं ७ अचेतनत्वं ८ मूर्तत्वं ९ अमूर्तत्वं १० चेति द्रव्याणां दश सामान्यगुणाः ॥ प्रत्येकमष्टावष्टौ सर्वेषाम् ॥ ज्ञानदर्शनसुखवीर्यस्पर्शरसगन्धवर्णगतिहेतुत्वस्थितिहेतुत्वाऽवगाहनाहेतुत्ववर्तनाहेतुत्वचेतनत्वाऽचेतनत्वमूर्तत्वाऽमूर्तत्वलक्षणाः षोडश विशेषगुणाः॥ प्र-

सिद्धान्तवाक्यस्पष्टीकरणपूर्वं वाचकसूत्रीयविरोधपरिहारः गुणनिरूपणे दिगम्बरप्रक्रियया गुणाद्युपदर्शनञ्च ॥

त्येकं जीवपुद्गलयोः षट् षट्,इतरेषां च प्रत्येकं त्रयस्त्रयो गुणा, अन्तस्थाश्चत्वारः स्वजात्यपेक्षया सामान्यगुणा विजात्यपेक्षया विशेषगुणाः, तत्रास्तीत्येतस्य भावोऽस्तित्वं सद्रूपत्वं १॥ वस्तुनो भावो वस्तुत्वं सामान्यविशेषरूपत्वं २ ॥ द्रव्यस्य भावो द्रव्यत्वं, निजनिजप्रदेशसमूहैरखण्डवृत्त्या स्वभावविभावगुणपर्यायान्द्रवति द्रोष्यति अदुद्रवदिति द्रव्यं ३॥ प्रमेयस्य भावः प्रमेयत्वं, प्रमाणेन परिच्छेद्यं रूपं प्रमेयं ४॥ गुरुलाघवाभावोऽगुरुलघुत्वं, सूक्ष्मा अवाग्गोचराः प्रतिक्षणं विवर्तमाना आगमप्रामाण्यादभ्युपगम्या अगुरुलघुगुणाः ५ ॥ "सूक्ष्मं जिनोदितं तत्त्वं, हेतुभिर्नैव हन्यते ॥ आज्ञासिद्धं हि तद् ग्राह्यं, नान्यथावादिनो जिनाः ॥१॥" प्रदेशस्य भावः प्रदेशत्वं, अविभागिपुद्गलपरमाणुनावष्टब्धत्वम् ६ ॥ चेतनस्य भावश्चेतनत्वं, चैतन्यमनुभवनम् ७॥ श्लोकः—" चैतन्यमनुभूतिः स्या-त्सा क्रियारूपमेव च ॥ क्रिया मनोवचःकायै-रन्विता वर्तते ध्रुवम् ॥१॥ " अचेतनस्य भावोऽचेतनत्वम्, अचैतन्यमननुभवनं८॥ मूर्तस्य भावो मूर्तत्वं रूपादिसन्निवेशः९॥ अमूर्तस्य भावोऽमूर्तत्वं, रूपादिरहितत्वम् १०॥ ज्ञानादयः प्रतीताः॥ स्वस्य भावाः स्वभावास्ते चैकविंशतिः, तत्र [1]अस्तिस्वभावो [2]नास्तिस्वभावो [3]नित्यस्वभावो-[4]ऽनित्यस्वभाव [5]एकस्वभावो[6]ऽनेकस्वभावः [7]भेदस्वभावो[8]ऽभेदस्वभावः [9]भव्यस्वभावो[10]ऽभव्यस्वभावः [11]परमस्वभाव इति द्रव्याणामेकादश सामान्यस्वभावाः, [1]चेतनस्वभावो[2]ऽचेतनस्वभावः [3]मूर्तस्वभावो[4]ऽमूर्तस्वभावः [5]एकप्रदेशस्वभावो[6]ऽनेकप्रदेशस्वभावः [7]विभावस्वभावः [8]शुद्धस्वभावो[9]ऽशुद्धस्वभाव [10]उपचरितस्वभावः इत्येते द्रव्याणां दश विशेषस्वभावाः, एते जीवपुद्गलयोरेकविंशतिः॥ [1]चेतनस्वभाव[2]मूर्तस्वभाव[3]विभावस्वभावा[4]ऽशुद्धस्वभावै[5]कप्रदेशस्वभावान्विना धर्मादित्रयस्य षोडश॥ बहुप्रदेशं विना कालस्य पञ्चदश॥ श्लोकः—" एकविंशतिभावाः स्यु-र्जीवपुद्गलयोर्मताः ॥ धर्मादीनां षोडश स्युः, काले

दिगम्बर-प्रक्रियया द्रव्येषु सामान्यविशेष गुणानां सामान्यविशेषस्वभावानां च प्रदर्शनं, गुणलक्षणादिनिरूपणञ्च॥

पञ्चदश स्मृताः ॥ १ ॥" स्वभावलाभादच्युतत्वादस्तिस्वभावः १॥ पररूपेणाभावान्नास्तिस्वभावः २॥ निजनिजनानापर्यायेषु तदेवेदं द्रव्यमिति प्रतीतेर्नित्यस्वभावः ३॥ तस्याप्यनेकपर्यायपरिणामित्वादनित्यस्वभावः ४॥ स्वभावानामेकाधारत्वादेकस्वभावः ५॥ एकस्याप्यनेकस्वभावोपलम्भादनेकस्वभावः ६॥ गुणगुण्यादिसंज्ञादिभेदाद्भेदस्वभावः ७॥ गुणगुण्याद्येकस्वभावाद‌भेदस्वभावः ८॥ भाविकाले पररूपाकारभवनाद्भव्यस्वभावः ९॥ कालत्रयेऽपि पररूपाकाराभवनादभव्यस्वभावः १०॥ उक्तं च—"अण्णोण्णं पविसंता, दिंता ओगासमण्णमण्णस्स ॥ मेलन्ता वि य णिच्चं, सगसगभावं ण विजहंति ॥ १ ॥" पारिणामिकभावप्रधानत्वेन परमस्वभावः ११॥ चेतनस्वभावादिचतुष्टयं४ गुणपाठमध्य एव व्याख्यातम् १५॥ एकप्रदेशस्वभावोऽखण्डवृत्त्याऽवस्थितिः १६॥ अनेकप्रदेशस्वभावः सखण्डवृत्त्यावस्थानम् १७॥ स्वभावादन्यथाभवनं विभावः १८॥ शुद्धस्वभावोऽन्यामिश्रणेन केवलस्वभावः १९॥ अशुद्धस्तद्विपरीतः २०॥ स्वभावस्याप्यन्यत्रोपचारादुपचरितस्वभावः २१॥ स द्वेधा कर्मजस्वाभाविकभेदात्, आद्यो यथा—जीवस्य मूर्तत्वमचेतनत्वं च, द्वितीयो यथा—सिद्धात्मनां परज्ञता परदर्शकत्वं च ॥ एवमितरेषां द्रव्याणामुपचारो यथासम्भवं ज्ञेयः ॥ एते स्वभावा अनेकान्तवाद एव घटन्ते, एकान्तस्य वक्तुमशक्यत्वात्, तथाहि, सर्वथैकान्तेन सद्रूपस्य न नियतार्थव्यवस्था, सङ्करादिदोषप्रसङ्गात् १, एकान्तेनासद्रूपस्याऽपि न नियतार्थव्यवस्था, सकलशून्यतापत्तेः २, सर्वथा नित्यत्वेऽप्येकरूपस्य नानाविधार्थक्रियाकारित्वाभावस्तदभावे द्रव्यस्याप्यभावः ३, सर्वथाऽनित्यपक्षेऽपि निरन्वयत्वादर्थक्रियाकारित्वाभावस्तदभावे द्रव्यस्याप्यभावः ४, एकान्तेनैकस्वरूपत्वे विशेषाभावस्तदभावे सामान्यस्याप्यभावः ५ । यतः—"निर्विशेषं हि सामान्यं, भवेत्खरविषाणवत् ॥ सामान्यरहितत्वाच्च, विशेषास्तद्वदेव हि॥१॥" एकान्तेनानेक-

स्वभावपक्षेऽपि द्रव्याभावो निराधारत्वाद् ६, भेदैकान्तपक्षेऽपि विशेषस्वभावानां निराधारत्वादर्थक्रियाकारित्वाभावस्तदभावे द्रव्यस्याप्यभावः ७, अभेदैकान्तपक्षेऽपि सर्वेषामेकत्वं, तथा च प्रतिनियतार्थक्रियाकारित्वाभावस्तदभावे द्रव्यस्याप्यभावः ८, एकान्तेन भव्यस्वभावाभ्युपगमे द्रव्यस्य द्रव्यान्तरत्वप्रसङ्गात्सङ्करव्यतिकरविरोधवैयधिकरण्यानवस्थासंशयाप्रतिपत्त्यभावदोषानुषङ्गः ९॥ सर्वथाऽभव्यस्वभावाभ्युपगमेऽपि शून्यताप्रसङ्गः १०, स्वभावैकान्ते संसाराभावः, विभावैकान्ते मोक्षाभावः ११, सर्वथा चैतन्यस्वभावाभ्युपगमे सर्वेषामात्मनां शुद्धज्ञानचैतन्यावाप्तिप्रसङ्गेन ध्यानध्येयज्ञानज्ञेयगुरुशिष्याद्यभावः १२, अचैतन्यैकान्तेऽपि सकलचैतन्योच्छेदाज्जडत्वापत्तिः १३, एकान्तेन मूर्तस्वभावाभ्युपगमे आत्मनो न मोक्षावाप्तिः १४, अमूर्तैकान्तेऽपि संसारविलोपापत्तिः १५, एकप्रदेशस्यैकान्तेनाखण्डपरिपूर्णस्यात्मनोऽनेककार्यकारित्वहानिः १६, सर्वथाऽनेकप्रदेशत्वेऽपि तस्य नार्थक्रियाकारित्वं, स्वस्वभावशून्यताप्रसङ्गात् १७, शुद्धैकान्तस्वभावे चात्मनो न कर्ममलकलङ्कावलेपः, सर्वथा निरञ्जनत्वात् १८, अशुद्धैकान्तस्वभावेऽप्यात्मनो न कदाचिदपि शुद्धस्वभावप्रसङ्गः स्यात्, तन्मयत्वात् १९, उपचरितैकान्तपक्षेपि नात्मज्ञता सम्भवति, नियमितपक्षत्वात् २०, तथात्मनोऽनुपचरितैकान्तपक्षेपि परज्ञाना(ज्ञता)दीनां विरोधः स्यात् २१॥ अत्र नयोपनययोजना कर्तव्येति तद्भेदा उच्यन्ते, द्रव्यार्थिकः पर्यायार्थिको नैगमाद्याश्च सप्तेति नव नयाः, नयानां समीपे उपनयास्ते त्रयः, सद्भूतव्यवहारोऽसद्भूतव्यवहार उपचरितासद्भूतव्यवहारश्चेति, तत्र द्रव्यार्थिको दशधा, आद्यः कर्मोपाधिनिरपेक्षः शुद्धद्रव्यार्थिकः, यथा संसारिजीवः सिद्धसदृशशुद्धात्मा १ ॥ द्वितीय उत्पादव्ययगौणत्वेन सत्ताग्राहकः शुद्धद्रव्यार्थिको, यथा द्रव्यं नित्यं २ ॥ तृतीयो भेदकल्पनानिरपेक्षः शुद्धद्रव्यार्थिको, यथा निजगुणपर्यायस्वभावाद्द्रव्यमभिन्नं ३ ॥ चतुर्थः कर्मोपाधिसापेक्षोऽशुद्धद्रव्या-

दिगम्बर-प्रक्रियया स्वभावानामनेकान्तवाद एवोपपत्तिप्रदर्शनं, नयोपनयभेदनिरूपणञ्च ॥

र्थिको, यथा क्रोधादिकर्मजभाव आत्मा ४ ॥ पञ्चम उत्पादव्ययसापेक्षोऽशुद्धद्रव्यार्थिको, यथैकस्मिन् समये द्रव्यमुत्पादव्ययध्रौव्यात्मकं ५॥ षष्ठो भेदकल्पनासापेक्षोऽशुद्धद्रव्यार्थिको, यथात्मनो दर्शनज्ञानादयो गुणाः ६॥ सप्तमोऽन्वयसापेक्षो द्रव्यार्थिको, यथा गुणपर्यायस्वभावं द्रव्यं ७ ॥ अष्टमः स्वद्रव्यादिग्राहको द्रव्यार्थिको, यथा स्वद्रव्यादिचतुष्टयापेक्षया द्रव्यमस्ति८॥ नवमः परद्रव्यादिग्राहको द्रव्यार्थिको, यथा परद्रव्यादिचतुष्टयापेक्षया द्रव्यं नास्ति९॥ परमस्वभावग्राहको द्रव्यार्थिको दशमो,यथा ज्ञानस्वरूप आत्मा,अत्रानेकस्वभावानां मध्ये ज्ञानाख्यः परमस्वभावो गृहीतः१०॥इति द्रव्यार्थिकभेदाः॥१०॥

अथ पर्यायार्थिकस्य षड् भेदाः॥ आद्योऽनादिनित्यपर्यायार्थिकः, यथा पुद्गलपर्यायो मेर्वादिर्नित्यः१॥११॥द्वितीयः सादिनित्यपर्यायार्थिकः, यथा सिद्धपर्यायो नित्यः २॥१२॥तृतीयः सत्तागौणत्वेनोत्पादव्ययग्राहकोऽनित्यशुद्धपर्यायार्थिकः, यथा समयं समयं प्रति पर्याया विनाशिनः ३॥१३॥ चतुर्थः सत्तासापेक्षो नित्याशुद्धपर्यायार्थिकः, यथैकस्मिन् समये त्रयात्मकः पर्यायः४॥१४॥ पञ्चमः कर्मोपाधिनिरपेक्षो नित्यशुद्धपर्यायार्थिकः, यथा संसारी सिद्धसदृक् शुद्धात्मा ५॥१५॥ षष्ठः कर्मोपाधिसापेक्षो नित्याशुद्धपर्यायार्थिकः, यथा संसारिणामुत्पत्तिमरणे स्तः६॥इति॥१६॥नैगमस्त्रेधा,भूतभाविवर्तमानकालभेदात्, अतीते वर्तमानारोपणं यत्र स भूतनैगमः, यथाऽद्य दीपोत्सवपर्वणि वर्धमानस्वामिनो मोक्षं गताः १॥१७॥ भाविनि भूतवत्कथनं यत्र स भाविनैगमः यथार्हन्सिद्ध एव२॥१८॥ कर्तुमारब्धमीषन्निष्पन्नमनिष्पन्नं वा वस्तु निष्पन्नवत्कथ्यते यत्र स वर्तमाननैगमः, यथा ओदनः पच्यते ३॥इति॥१९॥सङ्ग्रहो द्विविधः, सामान्यविशेषभेदात्, आद्यो यथा द्रव्याणि सर्वाण्यविरोधीनि१॥२०॥द्वितीयो यथा सर्वे जीवाः परस्परमविरोधिनः २॥इति॥२१॥व्यवहारोप्येतद्भेदको द्विविधः, आद्यो

दिगम्बर-
प्रक्रियया
द्रव्यार्थिक-
भेददशक-
स्य पर्याया-
र्थिकभेदष-
ट्कस्य नैगम-
संग्रहव्य-
वहाराणां च
भेदप्रदर्श-
नम् ॥

यथा जीवाजीवाः ॥२२॥ द्वितीयो यथा जीवाः संसारिणो मुक्ताश्च ॥२३॥ इति ॥ ऋजुसूत्रः स्थूलसूक्ष्मभेदाद् द्विधा, आद्यो यथा मनुष्यादिपर्यायास्तदायुःप्रमाणकालं तिष्ठन्ति॥२४॥ द्वितीयो यथा एकसमयावस्थायी पर्यायः ॥२५॥ इति शब्दादयस्त्रयः प्रत्येकमेकैकभेदाः ॥ २६-२७-२८ ॥ इति सर्वेऽप्यष्टाविंशतिर्नयभेदाः ॥

उपनयेषु एकवस्तुभेदविषयः सद्भूतव्यवहारः, स च शुद्धाशुद्धभेदाद्द्विविधः, आद्यः शुद्धगुणगुणिशुद्धपर्यायपर्यायिभेदकथनं, यथा केवलज्ञानादयो जीवस्य । द्वितीयोऽशुद्धगुणगुण्यादिभेदकथनं यथा मतिज्ञानादयो जीवस्य ॥ असद्भूतव्यवहार उपचरितस्य पृथक्कथनादनुपचरितो गृह्यते, स च संश्लेषसहितवस्तुसम्बन्धविषयः स्वजातिविजात्युभयविषयभेदेन त्रिविधः, आद्यो यथा परमाणुर्बहुप्रदेशीति कथनं ॥ द्वितीयो यथा मूर्त्तं मतिज्ञानं यतो मूर्त्तद्रव्येण जनितम् ॥ तृतीयो यथा ज्ञेये जीवेऽजीवे च ज्ञानमिति कथनं, तस्योभयनिष्ठत्वात् ॥ असद्भूतव्यवहार एवोपचारस्तत उपचारानन्तरं य उपचारः क्रियते स संश्लेषरहितवस्तुसम्बन्धविषय उपचरितासद्भूतव्यवहारः, सोऽपि स्वजातिविजात्युभयविषयभेदेन त्रिविधः, आद्यो यथा पुत्रदारादि मम । द्वितीयो यथा वस्त्राऽऽभरणहेमरजतादि मम । तृतीयो यथा दुर्गदेशराज्यादि मम ॥

एते नयोपनयभेदा यथासम्भवं स्वभावेषु योज्यन्ते, स्वद्रव्यादिग्राहकेणास्तिस्वभावः१, परद्रव्यादिग्राहकेण नास्तिस्वभावः२, उत्पादव्ययगौणत्वेन सत्ताग्राहकेण नित्यस्वभावः३, केनचित्पर्यायार्थिकेणानित्यस्वभावः४, भेदकल्पनानिरपेक्षेणैकस्वभावः५, अन्वयद्रव्यार्थिकेनैकस्याप्यनेकद्रव्यस्वभावत्वं६, सद्भूतव्यवहारेण गुणगुण्यादिभिर्भेदस्वभावः७, भेदकल्पनानिरपेक्षेण गुणगुण्यादिभिरभेदस्वभावः८, परमभावग्राहकेण भव्याभव्यपारिणामिकस्वभावाः९-१०-११, शुद्धाशुद्धपरमभा-

दिगम्बरप्रक्रियया नयोपनयभेदविचारे ऋजुसूत्रादीनां भेदाः उपनयभेदा नयोपनयानां स्वभावेष्ववतारश्च ॥

वग्राहकेण चेतनस्वभावो जीवस्य, असद्भूतव्यवहारेण कर्मनोकर्मणोरपि चेतनस्वभावः१२, परमभावग्राहकेण कर्मनोकर्मणोरचेतनस्वभावः, जीवस्याप्यसद्भूतव्यवहारेणाऽचेतनस्वभावः१३, परमभावग्राहकेण कर्मनोकर्मणोर्मूर्तस्वभावः, जीवस्याप्यसद्भूतव्यवहारेण मूर्तस्वभावः१४, परमभावग्राहकेण पुद्गलं विहायेतरेषाममूर्तस्वभावः, पुद्गलस्योपचारादपि नास्त्यमूर्तत्वं, मुख्यार्थाबाधे सति तथाव्यवहाराभावात्, एवं सति पुद्गलस्यैकविंशतितमो भावो न लभ्येतेति पुद्गलाणोः परोक्षप्रमाणापेक्षयाऽसद्भूतव्यवहारेणोपचारेणामूर्तत्वं स्वीकर्तव्यं१५, परमभावग्राहकेण कालपुद्गलाणूनामेकप्रदेशस्वभावत्वं, भेदकल्पनानिरपेक्षेणेतरेषां च धर्माधर्माकाशजीवानामखण्डत्वादेकप्रदेशत्वं१६, भेदकल्पनासापेक्षेण चतुर्णामपि नानाप्रदेशस्वभावत्वं, पुद्गलाणोरुपचारतो नानाप्रदेशत्वं, न च कालाणोः स्निग्धरुक्षत्वाभावात्। अरूक्षत्वाच्चाणोरमूर्तकालस्य चैकविंशतितमो भावो न स्यात्, परोक्षप्रमाणापेक्षयासद्भूतव्यवहारेणाप्युपचारेणामूर्तत्वं१७। पुद्गलस्य शुद्धाशुद्धद्रव्यार्थिकेन विभावस्वभावत्वं१८, शुद्धद्रव्यार्थिकेन शुद्धस्वभावः१९, अशुद्धद्रव्यार्थिकेनाशुद्धस्वभावः२०, उपचरितस्वभावश्चासद्भूतव्यवहारेणेति२१॥

गुणविकाराः पर्यायाः, ते द्वेधा स्वभावविभावभेदात्, स्वभावपर्यायाः षड् वृद्धिरूपाः षट् च हानिरूपा इति द्वादश ॥ विभावद्रव्यव्यञ्जनपर्याया जीवस्य नरनारकादयः१, स्वभावद्रव्यव्यञ्जनपर्यायाश्चरमशरीरात् किञ्चिन्न्यूनसिद्धपर्यायाः२, विभावगुणव्यञ्जनपर्याया मत्यादयः३, स्वभावगुणव्यञ्जनपर्याया अनन्तचतुष्टयरूपा जीवस्य४, पुद्गलस्य तु द्व्यणुकादयो विभावद्रव्यव्यञ्जनपर्यायाः५, रसरसान्तरगन्धगन्धान्तरादयो विभावगुणव्यञ्जनपर्यायाः६, अविभागिपुद्गलपरमाणवः स्वभावद्रव्यव्यञ्जनपर्यायाः७, वर्णगन्धरसैकैकाविरुद्धस्पर्शद्वयं च स्वभावगुणव्यञ्जनपर्याया८ ॥इति॥ [ अनाद्यनिधने

दिगम्बर-प्रक्रियोक्त गुणस्वभावभेदानामप्रमाणकत्वस्थापनेन निरसनम् ॥

द्रव्ये, स्वपर्यायाः प्रतिक्षणम् ॥ उन्मज्जन्ति निमज्जन्ति, जल(कूल)कल्लोलवज्जले ॥१॥ धर्माधर्मनभःकाला, अर्थपर्यायगोचराः ॥ व्यञ्जनेन तु सम्बद्धौ, द्वावन्यौ जीवपुद्गलौ॥२॥"इति पर्यायाधिकारः॥"]इति । तदेतत्स्वकपोलकल्पनामात्रं वातूलतरलार्कतूलतुल्यं, गुणानामेव पर्यायानतिरेके गुणस्वभावभेदकल्पनायां प्रमाणाभावात् ,सहभावित्वक्रमभावित्वभेदविवक्षया गुणपर्यायभेदोक्तिसम्भवेऽपि सहभाविनामपि धर्माणामानन्त्यात् यथोक्तेयत्ताक्षतेः, द्रव्यव्यवस्थाहेतोश्चोपयोगादिगुणानां यथासूत्रं प्रत्येकमेव ग्रहणौचित्यात्, स्थूलव्यवहारेण यथोक्तसङ्ख्यग्रहणेऽपि प्रमेयत्ववदभिधेयत्वादेरपि त्यागे बीजाभावात् । किञ्च द्रव्यत्वं यदि गुणः, पर्यायत्वं कुतो न गुणो, द्वयोस्तुल्याश्रयत्वात्, एवं सामान्यत्वविशेषत्वादावपि पर्यनुयोगो विधेयः । वस्तुत्वकुक्षावेव सामान्यविशेषप्रवेशान्न तदाधिक्यमिति चेत्, वस्तुत्वं यथा सामान्यविशेषात्मकत्वं तथा द्रव्यपर्यायात्मकत्वमपि किं न स्यात्, जात्यन्तरात्मके हि वस्तुनि प्रामाणिकसर्वधर्मात्मकत्वं सुवचमेव ॥ किञ्च स्वभावा अपि गुणपर्यायातिरिक्ताः के नाम, ये पृथगुद्दिष्टाः, धर्मापेक्षया स्वभावा गुणा न भवन्तीति ते पृथगुद्दिष्टा इति चेत्, तत्किं विध्येकनियमितस्वभावा धर्मा गुणा विधिप्रतिषेधान्यतरनियन्त्रितधर्माः स्वभावा इति भवतोऽभिप्रायः, ओमिति चेत्, तर्हि चैतन्याचैतन्यमूर्तत्वाऽमूर्तत्वादीनां कथं गुणमध्ये परिगणनयापि स्वभावनययोजनिकाभिहिता, सापि न सर्वा सिद्धान्तानुपातिनी,अन्वयद्रव्यार्थिकेनानेकस्वभावत्वयोजनस्याघटमानत्वात्, प्रतीत्यसमुत्पादसमुत्पन्नानेकधर्मस्वभावत्वस्य पर्यायार्थिकेनैव ग्रहणात्, तन्मत एव क्रमिकनानाधर्मग्राहिप्रत्यक्षानन्तरं तेष्वनेकत्वविकल्पोत्पादेन तथाव्यपदेशसम्भवात्, धर्मिण एकत्वप्रतीत्यर्थं तत्रान्वयद्रव्यार्थिकोऽपेक्षणीय इति चेत्, न, पत्रस्य नीलता तैलस्य धारेत्यादाविव धर्मिण एकत्वस्याप्यौपचारिकस्य पर्यायार्थि-

केनाश्रयणात् । एवं सति एकत्वसापेक्षानेकत्वग्राहकोऽशुद्धपर्यायार्थिकोऽप्यतिरिच्येतेति चेत्, अतिरिच्यतां नाम नास्माकमनुपपत्तिः, न हि वयं भवानिव दशभेदमेव द्रव्यार्थिकं षड्भेदमेव च पर्यायार्थिकं प्रसिद्धनयविलक्षणभेदमभ्युपगच्छामः, किन्तु यथासम्भवं यथानुभवं च शुद्धान्द्रव्यार्थिकभेदान् सङ्ग्रहे शुद्धान् पर्यायार्थिकभेदांश्चर्जुसूत्रेऽशुद्धांश्च तान् व्यवहारेऽन्तर्भावयामः, ततश्च न कमपि दोषमासादयामः । यदि चानुपचरितैकस्वभावधर्मिण्यन्वयद्रव्यार्थिकेणैवानेकस्वभावो गृह्यते इत्यभिमानः, तदाऽनुपचरितस्यैव प्राधान्यादेकस्वभाव एवायातः । तथापि आधारांशोर्ध्वतासामान्यांशभेदाद् ग्राहकग्राह्यभेद इति चेत्, तर्हि तिर्यक्सामान्यार्थिकेन ग्राहकेण ग्राह्यस्तिर्यक्सामान्यस्वभावोऽप्यधिकः कल्प्यतामिति ॥ "परिगमणं पज्जाओ, अणेगकरणं गुणत्ति तुल्लत्था ॥३–१२॥" इत्यादिसम्मतिमहातर्कवचनानुसारेणानेकस्वभावत्वं पर्यायार्थिकेनैव ग्राह्यमिति प्रतिपत्तव्यमिति किमल्पीयसि क्षोदेन ॥ 'परमभावग्राहकेण कालपुद्गलाणूनामेकप्रदेशस्वभावत्वं भेदकल्पनानिरपेक्षेणेतरेषां चेत्यादि' यदुक्तं, तदपि चिन्त्यम्, भेदकल्पनानिरपेक्षशुद्धद्रव्यार्थिकेन नानाप्रदेशस्वभावस्याप्येकप्रदेशस्वभावव्यवस्थितौ 'धर्मादीनां षोडश स्युः,' इत्यस्य व्याघातात्, कथायामत्र नयद्वयावतारेऽपि परमार्थचिन्तायां परमभावग्राहकेणैवैकप्रदेशस्वभावग्रहणे च जीवपुद्गलयोरेकविंशतिरित्यस्य व्याघातात्, न हि जीवः कालपुद्गलाणुवत्कदाप्येकप्रदेशः सम्भवति, क्षेत्रतोऽप्यस्यासङ्ख्येयप्रदेशावगाहनस्वाभाव्यात् । अणूनामेकप्रदेशस्वभावत्वं वास्तवमेव तदतिरिक्तपुद्गलजीवानां तु सङ्कोचविकासप्रयुक्तच्छेदभेदाप्रतियोगिप्रदेशत्वलक्षणं पारिभाषिकमेव तदिति नातिप्रसङ्गः इति चेत्, तर्हि तद्ग्रहः प्रदेशार्थनयेनैव, न तु भेदकल्पननिरपेक्षेण । तथा च सोमिलप्रश्ने भगवद्वचनं "पएसट्ठयाए अक्खये अहं, अव्वए अहं ति" ॥ कथं

च 'भेदकल्पनासापेक्षेण चतुर्णामपि नानाप्रदेशस्वभावत्वम्' इति वदंस्तन्निरपेक्षेणैकप्रदेशस्वभावत्वमपि नाभ्युपेयाः?, देशप्रदेशकल्पनारहितमखण्डैकस्वभावत्वलक्षणमेकप्रदेशस्वभावत्वं च द्रव्यार्थिकेन वदते ते कृतान्तः कथं न कुप्येत्, शुद्धपर्यायार्थिकैवम्भूतनयमत एव प्रदेशदृष्टान्ते तादृशवस्तुग्रहणस्यानुयोगद्वारादिषु व्यवस्थापनात् । अखण्डवस्तुग्राहित्वे सत्येवम्भूतस्य द्रव्यार्थिकत्वं बलादापतेदिति चेत्, तत्किं दिक्पटडिम्भ? कृतान्तेन सह योद्धुमुद्यतोऽसि?, न जानीषे सर्वतो बलवता तेन स्वप्रतिकूलवर्तिनः कस्य बलं न भग्नं, धर्मास्तिकायादिप्रदेशानां देशप्रदेशादिकल्पनाराहित्येनैकग्रहणगृहीतत्वमेव तन्मतेऽखण्डत्वं, स्वलक्षणविलक्षणघटादिपरमाणुष्विव पुञ्जत्वमिति न पर्यायार्थिकत्वभङ्गो न वा द्रव्यार्थिकत्वापत्तिरिति निःशङ्कं प्रतिपद्यस्व । एवमन्यदपि चिन्त्यमुपयुज्य चिन्तनीयम् ॥ गुणविकाराः पर्याया इत्युद्दिश्य द्रव्यपर्यायानपि तन्मध्ये विभजता देवानांप्रियेणोद्देशविभागविरोध एव किं न ज्ञातः । न च पर्यायाणां गुणविकारत्वं सूत्रसिद्धम्, अपि तु 'अणंतेहिं वण्णपज्जवेहिं अणंतेहिं गंध-रस-फास-संठाणपज्जवेहिं अणंतेहिं गुरुअलहुअपज्जवेहिं अणंतेहिं अगुरुलहुअपज्जवेहिं इत्यादिसूत्रपाठदर्शनाद् गुणरूपत्वमेव तेषां सिद्धमिति किमुत्सूत्रविस्पन्दितेन । किञ्च किं नाम गुणविकारत्वं, किं गुणोपादेयत्वं१, उत गुणाव्यवहितोत्तरक्षणोपजायमानत्वं२, आहोस्विद्गुणजातीयत्वे सति कार्यत्वं३, किं वोत्कर्षापकर्षशालिगुणपरिणामत्वं४, यद्वा द्रव्यक्षेत्रादिसन्निधानकृतवैलक्षण्यशालिगुणपरिणामत्वं५, नाद्यः गुणोपादेयपर्यायाप्रसिद्धेः, गुणस्य पर्यायोपादानत्वे द्रव्योच्छेदप्रसङ्गात् । द्रव्यं गुणपर्यायोभयोपादानं गुणास्तु पर्यायाणामेवोपादानानीति न द्रव्यमुच्छेत्स्यत इति चेत्, न, एकस्योभयोपादानत्वे विरोधाभावादतिरिक्तोपादानकल्पने गौरवस्यैव बाधकत्वात्, अन्यथा केवलपर्यायोपादानवत्केवलगुणोपादानमपि किञ्चित्कल्पनीयं स्यात् १ ।

दिगम्बरप्रक्रियोक्तनयैः स्वभावचिन्तानिरासः, गुणविकारत्वरूपपर्यायविचारखण्डनोपक्रमश्च ॥

न द्वितीयः, गुणस्य द्रव्यवदविचलितैकस्वभावत्वे तदव्यवहितोत्तरक्षणाप्रसिद्धेः, न च तदव्यवहितोत्तरक्षणोपजायमानत्वेन तद्विकारत्वं च वक्तुमपि शक्यं, घटाव्यवहितोत्तरक्षणोपजायमानस्य पटादेर्घटविकारत्वव्यवहारप्रसङ्गात्२। न च तृतीयः, शुद्धात्मद्रव्यव्यञ्जनपर्याये शुद्धपुद्गलद्रव्यव्यञ्जनपर्याये च गुणजातीयत्वाभावात्३। नापि तुरीयः, अनन्तचतुष्टयादिस्वभावगुणव्यञ्जनपर्यायाणां स्वरूपेणोत्कर्षापकर्षशालित्वाभावात् ४। नापि पञ्चमः, द्रव्यपरिणामे गुणपरिणामत्वायोगेन द्रव्यपर्यायासङ्ग्रहात्, गुणपदपरित्यागेनैव लक्षणकरणौचित्यात् ५ ॥ गुणा एव हि पर्यायाः, ते च द्रव्यस्यैवावस्थाविशेषाः, अत एव केवलज्ञानात्मकपर्यायोऽपि षष्टिवर्षायुषस्त्रिंशद्वर्षीयराज्यपर्यायसदृशः सम्मतौ प्रतिपादितः, तेन द्रव्यगुणपर्याययोर्जात्या भेदाभिधानमयुक्तम्। एतेन "पर्यायाश्चतुर्विधाः, समानजातीयद्रव्यपर्याया द्व्यणुकाणुकादयः१, विजातीयद्रव्यपर्यायाः मनुजादयः२, स्वभावगुणपर्यायाः केवलज्ञानादयो३, विभावगुणपर्यायाश्च मत्यादय४" इति प्रवचनसारवृत्तौ पर्यायविभागं कुर्वन्नमृतचन्द्रोऽप्यपास्तः, द्रव्यगुणपर्याययोर्जात्या भेदाभावात्, केवलज्ञानादिपर्यायाणां सादिनित्यानामपि भवस्थसिद्धद्रव्यावस्थाभेदेनैव वैलक्षण्यस्य त्रैलक्षण्यस्य शास्त्रे व्यवस्थापनात्। किञ्चास्मिन्विभागे विभागजपर्यायः परमाण्वादिः कुत्रान्तर्भावनीयः, न चासौ पर्यायो नास्त्येवेत्याशङ्कनीयम्, "अणु–दुअणुएहिं, दव्वे आरद्धे तिअणुयं ति ववएसो ॥ तत्तो य पुण विभत्तो, अणुत्ति जाओ अणू होइ ॥३–३९॥" इत्यादिग्रन्थेन सम्मतौ तद्व्यवस्थापनात्। "एगत्तं च पुहुत्तं च, संखा संठाणमेव य ॥ संयोगो य, विभागो य पज्जवाणं तु लक्खणं ॥ १३ ॥" इति (उत्तराध्ययन अ० २८) पारमर्षे एकत्वपृथक्त्वादीनां पर्यायलक्षणानां व्यक्त्या परिगणितानां परमाणुपर्यायव्यवस्थापकत्वात्, अत एव धर्मास्तिका-

दिगम्बरप्रक्रियोक्तगुणविकाररूपपर्यायविचारखण्डनं, दिक्पटामृतचन्द्रोक्तपर्यायविभागनिरासश्च ॥

यादीनामप्येकत्विकोत्पादमपेक्ष्य शुद्धपर्यायाणामिव परसंयोगजपर्यायाणामशुद्धानामपि सत्त्वं ध्रुवं,—"आगासाइआणं, तिण्णं परपच्चओऽणियमा ॥ ३–३३ ॥" इति सम्मतिप्रतीकेऽनियमादित्यकारप्रश्लेषेण व्याख्यानेऽस्याभिप्रायस्यैव लाभात् । इत्थञ्चाशुद्धस्वभावोऽपि धर्मादिषु स्यात्कारसंवलितः किं नोपदिश्यते ?, धर्मादिषु परसंयोगजाः पर्याया उपचरिता एव न त्वशुद्धा इति चेत्, आत्मनि मनुजादयः पर्याया अप्यसद्भूता एव न त्वशुद्धा इति शब्दमात्रेण किं नापलापः क्रियते ?, शेषाशुद्धस्वभावकार्यस्य विभावस्वभावादेव सम्भवादिति द्रव्यपर्यायातिरिक्तगुणस्वभावप्रक्रिया दैगम्बरी न विचारसहेति दिग् । ननु पर्यायातिरिक्तगुणाभावेऽपि युगपदयुगपद्भाविपर्यायविशेषप्रतिपिपादयिषया वाचकमुख्यानां "गुणपर्यायवद्द्रव्यम्" इतित० ५–३७ सूत्रप्रणयनस्य युक्तत्वेऽपि मतुब्योगाद्द्रव्यपर्याययोर्भेदापत्तिरिति चेत्, न, नित्ययोगे मतुपो विधानात्, यथाहि एकस्यैव पुरुषस्य पितृपुत्रादिसम्बन्धविशेषेण पुत्रादिनानारूपत्वं तथैकस्यैव द्रव्यस्य चक्षूरसनादिग्राह्यतयारूपरसादिपरिणतिभेद इति न द्रव्यगुणयोरन्यत्वं, आह च महामतिः—"पिउपुत्तणत्तुभाणि–ज्जभाऊणं एगपुरिससंबन्धो ॥ ण य सो एगस्स पिय–त्ति सेसयाणं पिया होइ ॥ ३–१७ ॥ जह सम्बन्धविसिट्ठो, सो पुरिसो पुरिसभावणिरइसओ ॥ तह दव्वमिंदियगयं, रूवाइविसेसणं लहइ ॥ ३–१८ ॥" पितृपुत्रनप्तृभागिनेयभ्रातृभिर्य एकस्य पुरुषस्य सम्बन्धः तेनासावेक एव पित्रादिव्यपदेशमासादयति, न चासावेकस्य पिता पुत्रः संवृत्त इति शेषाणामपि पिता भवति, यथा प्रदर्शितसम्बन्धविशिष्टः पित्रादिव्यपदेशमाश्रित्यासौ पुरुषरूपतया निरतिशयोऽपि संस्तथा द्रव्यमपि घ्राणरसनचक्षुस्त्वक्श्रोत्रसम्बन्धमवाप्य गन्धरसरूपस्पर्शशब्दव्यपदेशमात्रं लभते द्रव्यस्वरूपेणाविशिष्टमपि, न हि शक्रेन्द्रादिशब्द-

दिक्पटप्रक्रियाखण्डनोपसंहारः, द्रव्यपर्याययोरेकान्तभेदवादिमतनिरसनञ्च ॥

भेदाद्गीर्वाणनाथस्येव रूपादिशब्दभेदाद्वस्तुभेदो युक्तः, न चैवं पित्रादिवद् घटादेरपि सावधिकत्वप्रसङ्गः, पित्रादिव्यवहारस्येव रूपादिव्यवहारस्य सावधिकत्वेऽपि वस्तुनोऽतथात्वात् । न च चक्षुर्ग्राह्यताविशिष्टद्रव्यस्य रूपादित्वे ग्राह्यतायाः शक्तिरूपायाः अतीन्द्रियत्वेन रूपाद्यतीन्द्रियतापत्तिः, विशेषणाप्रत्यक्षत्वेऽपि विशेष्यविधया तत्प्रत्यक्षत्वसम्भवाच्छक्तिभेदाच्च न चाक्षुषादिज्ञानसङ्कर इति दिग् ॥ नन्वेवं द्रव्याद्वैतैकान्तसिद्धेः कथञ्चिद्भेदाभेदवादो द्रव्यगुणयोरघटमानः स्यादिति चेत्, न, रूपादीनां गुणभेदेन व्यवहारोपपत्तावपि द्रव्याविशेषेऽपि तद्विशेषदर्शनेन भेदस्यापि सम्भवात्, आह च—" होज्जाहि दुगुणमहुरं, अणंतगुणकालयं तु जं दव्वं ॥ ण उ डहरओ महल्लो, व होइ सम्बन्धओ पुरिसो ॥३-१९॥" यदि नामाम्लादिद्रव्यमेव रसनसम्बन्धाद्रस इति व्यपदेशमात्रमासादयेत्, द्विगुणमधुरं रसनतो कुतो भवेत्, तथा नयनसम्बन्धाद्यदि नाम कृष्णमिति भवेदनन्तगुणकृष्णं तत्कुतः स्यात्, वैषम्यभेदावगतेर्नयनादिसम्बन्धमात्रादसम्भवात्, तथा पुत्रादिसम्बन्धद्वारेण पित्रादिरेव पुरुषो भवेन्न त्वल्पो महान्वेति युक्तः, विशेषप्रतिपत्तेरुपचरितत्वे मिथ्यात्वे वा सामान्यप्रतिपत्तावपि तथाप्रसक्तेरिति भावः ॥ अत्राहैकान्ताऽभेदवादी —"भण्णइ सम्बन्धवसा, जइ सम्बन्धित्तणं अनुमयं ते ॥ नणु सम्बन्धविसेसे, सम्बन्धिविसेसणं सिद्धं ॥ ३-२० ॥" सम्बन्धसामान्यवशाद्यदि सम्बन्धित्वसामान्यमनुमतं तव, ननु सम्बन्धविशेषद्वारेण सम्बन्धिविशेषोऽपि किं नाभ्युपगम्यते ? ॥ सिद्धान्तवाद्याह—" जुज्जइ सम्बन्धवसा, सम्बन्धिविसेसणं ण उ ण एयं ॥ नय(रस)णाइ विसेसकओ, रूवा(रसा)इ विसेसपरिणामो ॥ ३-२१॥" सम्बन्धविशेषाद् युज्यते सम्बन्धिविशेषो, यथा दण्डादिसम्बन्धविशेषजनितसम्बन्धविशेषसमासादितपुरुषादिसम्बन्धिविशेषोऽवगतः, द्रव्याद्वैतवा-

दिनस्तु न सम्बन्धिविशेषो नापि सम्बन्धविशेषः मङ्गच्छत इति कुतो रसनादिविशेषसम्बन्धजनितो रसादिविशेषपरिणामः?॥ नन्वनेकान्तबादिनोऽपि रूपरसादेरनन्तगुणद्विगुणादिवैषम्यपरिणतिः कथमुपपन्नेत्याशङ्कायामाह–"भण्णइ विसमपरिणयं(ई) कह एयं होहिइ त्ति उवणीयं॥ तं होइ परणिमित्तं, णव त्ति णत्थित्थ एगंतो॥३–२२॥" शीतोष्णस्पर्शवदेकत्रैकदा विरोधाद्गण्यते एकत्राम्रफलादौ विषमपरिणतिः कथं भवनीति परेण प्रेरिते, उपनीतं प्रदर्शितमाप्तेन–तद्वैषम्यं भवति परनिमित्तं–द्रव्यक्षेत्रकालभावानां सहकारिणां वैचित्र्यात्तदाम्रादिवस्तु विषमरूपतया परिणमतीति वैषम्यं परनिमित्तमित्यर्थः, न च परनिमित्तमेवेत्यत्राप्येकान्तोऽस्ति, स्वरूपस्यापि तत्र कथञ्चिन्निमित्तत्वाद्, अन्यथा द्विगुणरसादीनां देशनियमानुपपत्तेः, विरोधश्च कालभेदेन देशभेदेन वा निरसनीयः, न चैकत्रैव प्रदेशे द्विगुणरसादित्वे एकगुणरसादिद्वयसमावेशाद्विरोधः सम्भावनीयः, एकैकगुणापेक्षया द्विगुणपर्यायवतो रसस्य प्रत्येकातिरिक्तत्वेनाविरोधात्, अत एव परापेक्षया षट्स्थानपतितत्वमप्यविरुद्धं, आपेक्षिकधर्मयोर्ह्रस्वत्वदीर्घत्वयोरिव विरोधासिद्धेरिति दिग्॥ तन्न द्रव्याद्वैतैकान्तः सम्भवी॥ अथ द्रव्यगुणयोर्भेदैकान्तवादिनो द्रव्यगुणलक्षणानुपपत्तिमुद्भावयन्ति—"दवस्स ठिई जम्मवि-गमा य गुणलक्खणं ति वत्तव्वं॥ एवं सइ केवलिणो, जुज्जइ तं णो उ दवियस्स॥३–२३॥" द्रव्यस्य लक्षणं स्थितिः, जन्मविगमौ लक्षणं गुणानामेवं सति केवलिनो युज्यत एतल्लक्षणं, तत्र किल केवलात्मना स्थित एव चेतनाचेतनरूपा अन्येऽर्था ज्ञेयभावेनोत्पद्यन्ते, अज्ञेयरूपतया च नश्यन्ति, न तु द्रव्यस्याण्वादेर्लक्षणमिदं युज्यते, न ह्यणौ रूपादयो जायन्ते अत्यन्तभिन्नत्वाद् गव्यश्वादिवत्, अथवा केवलिनोऽपि सकलज्ञेयग्राहिणो नैतल्लक्षणं युज्यते, न चापि द्रव्यस्याचेतनस्य, गुणगुणिनोरत्यन्तभेदेऽसत्त्वापत्तेरसतोश्च खरविषाणादेरिव लक्षणासम्भवादिति

अनेकान्तवादे रूपरसादेर्वैषम्यपरिणामोपपादनं द्रव्यगुणभेदैकान्तवादिमतपूर्वपक्षपूर्वं निरसनं च॥

द्रव्यार्थान्तरभूतगुणवादिनः । अत्रोत्तरं—"दव्वत्थंतरभूया, मुत्तामुत्ता य(व) ते गुणा होज्जा ॥ जइ मुत्ता परमाणू, णत्थि अमुत्तेसु अग्गहणं ॥ ३-२४ ॥ " द्रव्यार्थान्तरभूता गुणा मूर्ता अमूर्ता वा भवेयुः, यदि मूर्ताः न तर्हि परमाणवो भवन्ति, मूर्तिमद्रूपाद्याधारत्वाद्, अनेकप्रादेशिकस्कन्धवत्, अथामूर्ताः, अग्रहणं तेषां अमूर्तत्वादाकाशवत् । ततो द्रव्यगुणयोः कथञ्चिद्भेदाभेदावभ्युपगमनीयौ, अन्यथा प्रतीतिविरोधात्, तथाहि द्रव्यगुणयोर्यथाक्रममेकानेकप्रत्ययावसेयत्वात्कथञ्चिद्भेदः प्रतीयते, कथञ्चिदभेदोऽपि रूपाद्यात्मना द्रव्यस्वरूपस्य रूपादीनां च द्रव्यात्मकतया प्रतीतेः, अन्यथा तदभावापत्तेः, एतच्च विवक्षामात्रेणोच्यतेऽन्यथा जात्यन्तरात्मके वस्तुनि भेदाभेदादन्यतरकथाया एवासम्भवात्, न हि चित्रं वस्तु नीलपीताद्यन्यतरतया कथ्यते चर्च्यते वा, एकतरजिज्ञासया केवलं तथा प्रतीयत इति, एतदाह—" सीसमईविप्फारण-मेत्तत्थोयं कओ समुल्लावो ॥ इहरा कहामुहं चेव, णत्थि एवं ससमयम्मि ॥३-२५॥" शिष्यबुद्धिविकासनमात्रार्थोऽयं कृतः प्रबन्धः,इतरथा कथैवैषा नास्ति स्वसिद्धान्ते, 'किमेते गुणा गुणिनो भिन्ना आहोस्विदभिन्ना? इति,' अनेकान्तात्मकत्वात्सकलवस्तुनः । एवंरूपे च वस्तुतत्त्वेऽन्यथारूपं तत्प्रतिपादयन्तो मिथ्यावादिनो भवन्तीत्याह—"ण वि अत्थि अण्णवाओ, ण वि तव्वाओ जिणोवएसम्मि ॥ तं चेव य मण्णंता, अवमण्णंता ण याणंति॥३-२६॥" नैवास्त्यन्यवादो गुणगुणिनोर्नाप्यनन्यवादो जिनोपदेशे द्वादशाङ्गे प्रवचने, सर्वत्र कथञ्चिदित्याश्रयणात्,तदेवान्यदेवेति वा मन्यमाना मननीयमेवावमन्यमाना वादिनोऽभ्युपगतविषयावज्ञाविधायित्वादज्ञा भवन्ति, अभ्युपगमनीयवस्त्वस्तित्वप्रतिपादकोपायनिमित्तापरिज्ञानान्मृषावादिवदिति तात्पर्यार्थः । ततोऽनेकान्तवाद एव व्यवस्थितः ॥ ननु सर्वत्राऽनेकान्त इति नियमेऽनेकान्तेऽ-

द्रव्याद्भिन्ना गुणा इति वादिमत-खण्डनयुक्तयः गुण-गुणिभेदा-भेदरूपव-स्तुतत्त्वा-स्वीकारे मिथ्यात्व-प्रदर्शनम् ॥

प्यनेकान्तादेकान्तप्रसक्तिरिति चेत् ,अत्र वदन्ति—“भयणा वि हु भइयव्वा, जह भयणा भयइ सव्वदव्वाइं ॥ एवं भयणाणियमो वि, होइ समयाविरोहेण॥३–२७॥”यथा भजनाऽनेकान्तो भजते–सर्वंवस्तूनि तदेतत्स्वभावतया ज्ञापयति, तथा भजनाप्यनेकान्तोऽपि, भजनीया—अनेकान्तोऽप्यनेकान्त इतीष्टमस्माकं इति नयप्रमाणापेक्षयैकान्तश्चानेकान्तश्चेत्येवमसौ ज्ञापनीयः, तथाहि नित्यानित्यादिशबलैकस्वरूपे वस्तुनि नित्यत्वानित्यत्वाद्येकतरधर्मावच्छेदकावच्छेदेनैकतरधर्मात्मकत्वमुभयावच्छेदेन चोभयात्मकत्वं तथा नित्यानित्यत्वादिमत्सप्तधर्मात्मकत्वप्रतिपादकतापर्याप्त्यधिकरणेऽनेकान्तमहावाक्येऽपि सकलनयवाक्यावच्छेदेनोक्तरूपमनेकान्तात्मकत्वं प्रत्येकनयवाक्यावच्छेदेन चैकान्तात्मकत्वं न दुर्वचमिति भावः। एतदेवाह एवमुक्तरीत्या, भजनाऽनेकान्तः सम्भवति, नियमश्चैकान्तश्च, समयस्य सिद्धान्तस्य—“ रयणप्पभा सिय सासया सिय असासया ”—इत्येवमनेकान्तप्रतिपादकस्य—“ दव्वट्ठयाए सासया पज्जवट्ठयाए असासया ”—इत्येवं चैकान्ताभिधायकस्याविरोधेन । न चैवमव्यापकोऽनेकान्तवादः, स्यात्पदसंसूचितानेकान्तगर्भस्यैवैकान्तस्वभावत्वादनेकान्तस्यापि स्यात्कारलाञ्छनैकान्तगर्भस्यानेकान्तस्वभावत्वात् । न चानवस्था देशकार्त्स्न्याभ्यामवयवावयविरूपस्य वस्तुन इव स्याद्वादस्याप्येकान्तानेकान्तात्मकस्यैव प्रमाणादेव प्रतीतेः, भिन्नैकान्ताऽनेकान्तावलम्बनेऽप्यस्या ज्ञप्तिविरोधित्वाभावात्स्वसामग्रीमहिम्ना तादृशस्यैवोत्पत्तेर्मिथोऽनपेक्षणादुत्पत्तिविरोधिताया अपि वक्तुमशक्यत्वात्, न चोत्पत्तिज्ञप्त्यन्यतराप्रतिबन्धिकाप्यनवस्था दूषणं, यत्तार्किकाः—“ मूलक्षयकरीं प्राहु–रनवस्थां हि दूषणम् ॥ ” इति, न चेदेवं तदा प्रमेयत्वे प्रमेयत्वाद्युपगमेऽप्यनवस्थादोषो दुर्निवारः स्यात्, यद्वा यथा नैयायिकादीनां ‘ घटाभावोऽतिरिक्त एव, तदभावश्च

अनेकान्तस्यव्यापकत्वेऽनेकान्तेप्यऽनेकान्ताङ्गीकारे एकान्तापत्तिपरिहारः सिद्धान्ताऽविरोधप्रदर्शनं च ॥

घट एव, तृतीयाभावश्चाद्य एव, चतुर्थश्च द्वितीय एव' इत्यादिरीत्या नानवस्था तथाऽस्माकं अनेकान्तः१, अनेकान्तानेकान्त एकान्तः२, तदनेकान्त आद्य एव, तदनेकान्तश्च द्वितीय एवेति तृतीयचतुर्थाद्यनेकान्तानामाद्यद्वितीययोरेव पर्यवसानात्काऽनवस्था नाम । एकान्तनियामकस्वपररूपयोरनवस्थानादेकान्तगर्भानेकान्तस्य परिज्ञातुमशक्यत्वाज्ज्ञप्तिप्रतिबन्धिकैवेयमनवस्थेति कश्चित्, तन्न, इत्थमपि 'गुडशुण्ठी' न्यायेनानवच्छिन्नानेकान्ते दोषाभावात् । सावच्छिन्नानेकान्तवादेऽपि सूक्ष्मावच्छेदकजिज्ञासोपरम एवानेकान्तप्रयोगान्तरपरिश्रमोपरमेऽनवस्थानवकाशादिति दिग् ॥ नन्वनेकान्तस्य व्यापकत्वे 'षड्जीवनिकायास्तद्घाते चाधर्म' इत्यत्राप्यनेकान्तः स्यादिति चेत्, अत्राहुः ॥ "णियमेण सद्दहंतो, छकाए भावओ ण सद्दहइ ॥ हंदी अपज्जवेसु वि, सद्दहणा होइ अविभत्ता ॥३-२८॥" नियमेनावधारणेन षडेवैते जीवाः कायाश्चेत्येवं श्रद्दधानः षट्कायान्भावतः परमार्थतो न श्रद्धत्ते. जीवराश्यपेक्षया तेषामेकत्वात्कायानामपि पुद्गलतयैकत्वात्, जीवपुद्गलप्रदेशानां परस्पराऽविनिर्भागवृत्तित्वाज्जीवप्रदेशानां स्यादजीवत्वं, प्रत्येकं प्राधान्यविवक्षया स्यादनिकायत्वं, सूत्रविहितन्यायेन प्रवृत्तस्याप्रमत्तस्य न हिंसेति, तद्घातेऽपि स्यादधर्म इति न भावसम्यग्दृष्टिरसौ, द्रव्यसम्यग्दृष्टिस्तु स्यादेवान्यदर्शनासद्ग्रहनिवृत्त्या जिनवचनरुचिस्वभावस्य संक्षेपसम्यक्त्वलक्षणत्वात्, तथा च पारमर्षं (उत्तरा०अ०२८) " अणभिग्गहियकुदिट्ठी, संखेवरुइत्ति होइ णायव्वो ॥अविसारओ पवयणे, अणभिग्गहिओ य सेसेसु ॥२६॥त्ति" ततोऽपर्यायेष्वपि न विद्यन्तेऽर्चिर्मुर्मुरादयो विवक्षितपर्याया येषु पुद्गलेषु तेष्वप्यविभक्तश्रद्धानं यत्तदपि भावत एव भवेदर्चिष्मानयं भावो भूतो भावी वेति,न हि भूतभाविपर्यायोपरक्तवाक्यं द्रव्यतः सत्यं भवति,'सविशेषेण'इति न्यायाद् भूतभाविपर्यायध्वंसप्रागभावावगाहित्वात् ,तत्र द्रव्यतः सत्यत्वमिति चेत्,

प्रमेयत्व-घटाभावादिदृष्टान्तेनानेकान्ते प्रसक्ताऽनवस्थादोषपरिहारः, व्यापित्वमनेकान्तस्य निष्टङ्कितञ्च ॥

न, तथापि धर्मांशे द्रव्यतोऽविभक्तस्यापि धर्म्यंशे विभक्तस्य प्रत्ययस्य भावत एव सम्भवात्, तन्नात्राप्यव्यापकोऽनेकान्तवादः॥

वस्तुतो नियमेन षट् कायान् श्रद्दधद्भावतो न सम्यग्दृष्टिरित्यत्रैव हेतुरयं, हन्दि यतः, अपर्यायेषु एकादिप्रकाररहितेषु षट्सु कायेषु श्रद्धाऽविभक्ता भवति स्याद्वादज्ञानपरिसमाप्त्याकाङ्क्षापरिपूर्त्याऽविश्रान्ता भवति—“ एगविहदुविहतिविहा ”—इत्यादिप्ररूपणयैव तद्विश्रान्तिसम्भवादित्ययमर्थोऽनुभवसम्मुखीन इति ध्येयम् । नन्वनेकान्तस्य व्यापकत्वे गच्छति तिष्ठतीत्यत्राप्यनेकान्तः स्यादिति चेत्, स्यादेवेत्याह—“ गइपरिणयं गई चेव, केइ णियमेण दवियमिच्छंति ॥ तं पि य उड्ढगईअं, तहा गई अण्णहा अगई ॥३-२९॥ ” गतिक्रियापरिणतं द्रव्यं गतिमदेवेति केचिन्मन्यन्ते, तदपि गतिक्रियापरिणतं जीवद्रव्यं सर्वतो गमनायोगादूर्ध्वादिप्रतिनियतदिग्गतिकं तैरादिभिरभ्युपगन्तव्यं, एवं च तत्तथाप्रतिनियतदिग्गमनेन गतिमदन्यथा चाऽगतिमदेव, अन्यथापि यदि गतिमत्स्यात् तदाऽभिप्रेतदेशप्राप्तिवदनभिप्रेतदेशप्राप्तिरपि तस्य भवेदित्यनुपलभ्यमानयुगपद्विरुद्धोभयदेशप्राप्तिप्रसक्तिरित्यत्राप्यनेकान्तो नाव्यापकः, अभिप्रेतगतिरेव तत्रानभिप्रेतागतिरिति चेत्, न, अनभिप्रेतगत्यभावाभावे प्रतिनियतगतिभावस्यैवाभावात्, तत्सद्भावे च तदवस्थोऽनेकान्तः । ननु गतिमदेवेत्येकान्तेन गतिसामान्यवति गतिसामान्याभावो निषिध्यते स च गतिविशेषाभावेन नापोद्यते, नहि विशेषाभाव एव सामान्याभाव इति कोऽयमनेकान्त इति चेत्, न, गतिसामान्यवत्यपि गतिविशेषाभावेन भावाभावोभयरूपतासमावेशादेवानेकान्तसाम्राज्यात् । न च विशेषाभावेभ्यः सामान्याभावोऽपि सर्वथातिरिक्तः, किन्तु यावद्विशेषाभावाधिकरणावच्छेदेनातिरिक्तो यत्किञ्चिद्विशेषाभावाधिकरणावच्छेदेन चानतिरिक्त इति गतिसामान्यवति विशेषरूपेण तत्सामा-

अनेकान्तवादस्य विश्वव्यापकत्वं तत्र सम्मतिमहातर्कग्रन्थसंवादो निदर्शनानि च ॥

न्याभावोऽपि न दुर्लभः । गतिमति गतित्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावनिषेधान्नैकान्तव्याघात इति चेत्, न, सामान्यरूपेण विशेषाभावमादायेत्थमपि वक्तुमशक्यत्वात्, गतित्वावच्छिन्नगतिसामान्यनिष्ठप्रतियोगिताकाभावेन सह गतिसामान्यविरोधैकान्त एवेति चेत्, न, सामान्यावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वस्याधिकरणविशेषावच्छेदेनैव सम्भवात्, तत्तदधिकरणान्तर्भावेन विरोधाविरोधयोरप्यनेकान्तस्यैव साम्राज्यात् । यदि च सामान्यावच्छिन्नप्रतियोगिताकोऽभावोऽतिरिक्त एव तदा द्रव्यविशेषे रूपं न तु द्रव्यसामान्य इति प्रतीत्या सामान्यावच्छिन्नाधिकरणताकोऽप्यभावोऽतिरिक्तोऽभ्युपगन्तव्यः, तस्मादभावस्य सामान्याधिकरणकत्वस्य सामान्यप्रतियोगिकत्वस्य स्वतः सामान्यविशेषभावस्य चानेकान्तक्रोडीकृतत्वाद्भावाभावयोर्विरोधाविरोधावपि तादृशावेवेत्यभिप्रायात् । एतेन 'भावाभावसामान्ययोरेव विरोधकल्पनाद्भेदाभेदाद्यनेकान्तसमावेशोऽप्रामाणिकः' इत्यपास्तं, विरोधस्यापि विशेषविश्रान्तत्वेन यथानुभवं गुणगुण्यादिभेदाभेदाद्यविरोधकल्पन एव लाघवादित्यधिकं मत्कृतनयरहस्ये । स्यादेतद्, दहनाद्दहनः पचनात्पचन इत्यत्राप्यनेकान्ते दहनादावदहनादिविरुद्धरूपस्य सम्भवात् स्वरूपाभावप्रसङ्गस्तत्राह—" गुणनिर्वात्तियसण्णा, एवं दहणादओ वि दट्ठवा ॥ जं तु जहापडिसिद्धं, दव्वमदव्वं तहा होइ ॥ ३–३० ॥ " गुणेन दहनादिना निर्वर्तिता उत्पादिता संज्ञा येषां तेऽपि दहनपचनादयः, एवमेवानेकान्तात्मका द्रष्टव्याः, तथा हि दाहपरिणामयोग्यं तृणादिकं दहतीति दहनः, तदपरिणतिस्वभावं त्वात्माकाशाप्राप्तवज्राण्वादिकं न दहतीत्यदहनः, तेन यद्द्रव्यं यथा दहनरूपतया प्रतिषिद्धं, तद्द्रव्यमदहनादिकं, तथा भजनाप्रकारेण स्याद्दहनः स्यान्नेति भवति, ततो नाव्याप्त्यऽनेकान्तः । तथाऽदहन इत्यत्राप्यनेकान्तः, तथाहि यदुदकद्रव्यं दह-

नरूपेण प्रतिपिद्धं दहनो न भवतीत्यदहन इति भवति तदपि न सर्वथाऽदहनद्रव्यं भवति, पृथिव्यादेरदहनरूपाद् व्यावृत्तत्वात्, अन्यथा दहनव्यतिरिक्तभूतैकत्वप्रसङ्ग इत्यनेकान्त एव, दहनव्यावृत्तस्य तदतद्रव्यत्वात्। नन्वेवं तदतद्रव्यत्वाजीवद्रव्यमजीवद्रव्यं अजीवद्रव्यं च जीवद्रव्यं स्यात् इत्याशङ्कायामाह—

"कुंभो ण जीवदवियं, जीवो वि ण होइ कुंभदवियं ति॥ तम्हा दोवि अदवियं, अण्णोण्णविसेसिया होंति॥१॥३-२१॥" कुम्भो जीवद्रव्यं न भवति, जीवोऽपि न भवति घटद्रव्यं, तस्माद्द्वावप्यद्रव्यमन्योन्यविशेषितौ परस्पराभावात्मकौ, यतोऽयमभिप्रायः जीवद्रव्यं कुम्भादेरजीवद्रव्याद्, व्यावृत्तमव्यावृत्तं वा, प्रथमपक्षे स्वरूपापेक्षया जीवो जीवद्रव्यं कुम्भाद्यजीवद्रव्यापेक्षया तु न जीवद्रव्यमित्युभयरूपत्वादनेकान्त एव। द्वितीयविकल्पे तु सर्वस्य सर्वात्मकत्वापत्तेः, प्रतिनियतरूपाभावतस्तयोरभावः खरविषाणवत्, ततः सर्वमनेकान्तात्मकम्, अन्यथा प्रतिनियतरूपतानुपपत्तेरिति व्यवस्थितम् "अनेकान्तव्यवस्थितिश्रद्धैव भावतः सम्यक्त्वम्", तद्विकलानामुत्कृष्टचारित्रानुष्ठानस्यापि तथाविधफलाभावात्, तदुक्तं वादिगजकेसरिणा **श्रीसिद्धसेनदिवाकरेण**—" चरणकरणप्पहाणा, ससमयपरसमयमुक्कवावारा॥ चरणकरणस्स सारं, णिच्छयसुद्धं ण याणंति॥ ३-६७॥" चरणं श्रमणधर्मः " वयसमणधम्मसंजम-वेयावच्चं च बंभगुत्तीओ॥ नाणाइतियं तवकोहणिग्गहाई चरणमेयं॥ १॥" इति वचनात्। व्रतानि हिंसाविरमणादीनि **पञ्च, श्रमणधर्मः** क्षान्त्यादिर्दशधा, **संयमः** पञ्चाश्रवविरमणादिः सप्तदशभेदः, वैयावृत्त्यं दशधाऽऽचार्याराधनादि, **ब्रह्मगुप्तयो** नव वसत्यादयः, ज्ञानादित्रितयं ज्ञानदर्शनचारित्राणि, तपो द्वादशधाऽनशनादि, क्रोधादिकषायषोडशकस्य **निग्रहश्चेत्यष्टधा चरणम्**॥ करणं

अनेकान्तवादे जीवाजीवद्रव्यविपर्यासशंकानिरासः, अनेकान्तव्यवस्थानिर्णयस्यैव 'भावसम्यक्त्वोपदेशः'॥

पिण्डविशुद्ध्यादि "पिंडविसोही समिई, भावणपडिमा य इंदियनिरोहो ॥ पडिलेहणगुत्तीओ, अभिग्गहा चेव करणं तु ॥१॥" इति वचनात् । तत्र पिण्डविशुद्धिस्त्रिकोटिपरिशुद्धिराहारस्य, समितिरीर्यासमित्यादिः पञ्चधा, भावना अनित्यत्वादिका द्वादश, प्रतिमा मासादिका द्वादश भिक्षूणां, दर्शनादिका एकादशोपासकानाम्, इन्द्रियनिरोधश्चक्षुरादिकरणपञ्चकसंयमः, प्रतिलेखनं मुखवस्त्रिकाद्युपकरणप्रत्युपेक्षणमनेकविधं, गुप्तिर्मनोवाक्कायसंवरणलक्षणा त्रिधा, अभिग्रहा वसतिप्रमार्जनाद्योऽनेकविधाः । एतयोश्चरणकरणयोः प्रधानास्तदनुष्ठानतत्पराः, स्वसमयपरसमयमुक्तव्यापाराः— अयं स्वसमयोऽनेकान्तात्मकवस्तुस्वरूपप्ररूपणाद्, अयं च परसमयः केवलनयाभिप्रायप्रतिपादनादित्येतस्मिन् परिज्ञानेऽनादृताः, अनेकान्तात्मकवस्तुतत्त्वं यथावदनवबुध्यमानास्तदितरव्यवच्छेदेनेति यावत्, चरणकरणयोः सारं फलं, निश्चयशुद्धं निश्चयश्च तच्छुद्धं च ज्ञानदर्शनोपयोगात्मकं, निष्कलङ्कं न जानन्ति नानुभवन्ति, ज्ञानदर्शनचारित्रात्मककारणप्रभवत्वात्तस्य, कारणाऽभावे च कार्यस्यासम्भवात्, अन्यथा तस्य निर्हेतुकत्वापत्तेः, करणचरणयोश्च चारित्रात्मकत्वात्, द्रव्यपर्यायात्मकजीवादितत्त्वावगमस्वभावरुच्यभावेऽभावात्, अथवा चरणकरणयोः सारं निश्चयेन शुद्धं सम्यग्दर्शनं ते न जानन्ति, न हि यथावस्थितवस्तुतत्त्वावबोधमन्तरेण तद्रुचिः, न च स्वसमयपरसमयतात्पर्यार्थानवगमे तदवबोधो बोटिकादेरिव सम्भवी । अथ जीवादिद्रव्यार्थपर्यायार्थापरिज्ञानेऽपि यदर्हद्भिरुक्तं तदेवैकं सत्यमित्येतावतैव सम्यग्दर्शनसद्भावः—" भण्णइ तमेव सच्चं णिस्संकं जं जिणेहिं पण्णत्तं "—इत्याद्यागमप्रामाण्यात्, न, स्वसमयपरसमयपरमार्थानभिज्ञैर्निरावरणज्ञानदर्शनात्मकजिनस्वरूपाज्ञानवद्भिस्तदभिहितभावानां सामान्यरूपतयाप्यन्यव्यवच्छेदेन सत्यस्वरूपत्वेन ज्ञातुमशक्यत्वादवि-

भक्तसर्वज्ञश्रद्धानस्य चापुनर्बन्धकादिसम्भवित्वेन सम्यग्दर्शनानियामकत्वात्, नन्वेवमागमविरोधः, सामायिकमात्रपद-विन्माषतुषादेर्यथोक्तचारित्रिणस्तस्य मुक्तिप्रतिपादनात्, सकलशास्त्रार्थज्ञताविकलस्य व्रताद्याचरणनैरर्थक्यापत्तेश्च, तत्सा-ध्यफलानवाप्तेः, न च यथोपदर्शितचरणकरणे सम्यग्दर्शनवैकल्ये सम्भवतो ज्ञानादित्रितयस्यापि तत्र पाठादिति, मैवम्, ये यथोदितचरणकरणप्ररूपणासेवनद्वारेण प्रधानादाचार्यात्स्वसमयपरसमयमुक्तव्यापारा न भवन्तीति नञोऽत्र सम्बन्धात् ते-चरणकरणसारं निश्चयशुद्धं जानन्त्येव, गुर्वाज्ञया प्रवृत्तेः, चरणगुणस्थितस्य साधोः सर्वनयविशुद्धतयाभ्युपगमात्, " तं सव्वणयविसुद्धं" इत्याद्यागमप्रामाण्यात् । अगीतार्थस्यापि गीतार्थनिश्रितस्य तत्पारतन्त्र्यस्यैव फलतो ज्ञानदर्शनलक्षणत्वात् । आह च हरिभद्राचार्यः ( पंचाशके ) " गुरुपारतंतनाणं, सद्दहणं एयसंगयं चेव ॥ एत्तो उ चरित्तीणं, मासतुसाईण निद्दिट्ठं ॥११–७॥त्ति" गीतार्थाऽनिश्रिताऽगीतार्थस्य स्वतन्त्रचरणकरणप्रवृत्तस्य व्रताद्यनुष्ठानवैफल्यं त्वभ्युपगम्यत एव—"गीयत्थो य विहारो, बीओ गीयत्थमीसि(निस्सि)ओ भणिओ ॥ [इत्तो तइयविहारो, नाणुन्नाओ जिणवरेहि ॥] " इत्याद्यागमप्रामा-ण्यात् । तदेवं व्याख्यानद्वयेनानेकान्ततत्त्वविदुषस्तदाज्ञापरस्य वा महाव्रतधारिणश्चारित्रसाफल्यं, नान्यस्येति व्यवस्थित-मिति मोक्षार्थिभिः पुरुषसिंहैरनेकान्ततत्त्वपरिज्ञानाय भूयानुद्यमो विधेयः ॥

अनेकान्तवादसर्वस्वनिरूपणप्रसङ्गेन मोक्षार्थिभिरादरणीयतत्त्वोपदेशः ॥

॥ इति श्रीजैनतर्केत्यपराभिधानं श्रीअनेकान्ततत्त्वव्यवस्थाप्रकरणं सम्पूर्णम् ॥

## ॥ अथ श्री—अनेकान्तवादस्य विश्वव्यापकत्वरूपमाहात्म्यप्रदर्शयित्री प्रशस्तिः ॥

विना यं लोकानामपि न घटते संव्यवहृतिः, समर्था नैवार्थानधिगमयितुं शब्दरचना ॥
वितण्डाचाण्डाली स्पृशति च विवादव्यसनिनं, नमस्तस्मै कस्मैचिदनिशमनेकान्तमहसे ॥ १ ॥
कथायां लुप्यन्ते वियति वत तारा इव रवौ, नयाः सर्वे दीप्ता अपि समुदिते यत्र सहसा ॥
उदासीने त्वब्धाविव जलतरङ्गा बहुविधाः, समन्ताल्लीयन्ते श्रयत तमनेकान्तमनिशम् ॥ २ ॥
अनेकान्तं वादं यदि सकलनिर्वाहकुशलं, मतानि स्पर्धन्ते नयलवसमुत्थानि बहुधा ॥
तदा किं नो भावी बहुलकलिकौतूहलवशाद्, घटानां निर्मातुस्त्रिभुवनविधातुश्च कलहः ॥ ३ ॥
मिथो द्राग् युध्यन्ते महिषसदृशा ये परनयाः, प्रयातारः खेदं त इह बहुधा जर्जरतराः ॥
अनेकान्तो द्रष्टा पुनरवनिपालः प्रकृतितः, परावृत्तिं नैभ्यो व्रजति परिपूर्णाभिलषितः ॥ ४ ॥
विरुद्धैः सत्त्वाद्यैरिह बहुगुणैर्गुम्फिततनुं, प्रधानं यो वाञ्छत्यखिलजगतः सर्गनिपुणम् ॥
अनेकान्तं सांख्यः स कथमवमन्येत विलसेत्, प्रमाणाक्षक्रीडारसिकहृदयश्चेत्परिषदि ॥ ५ ॥
अबद्धं तत्त्वेन व्यवहृतिवशाद्बद्धमुपयन्, परं ब्रह्म व्यष्ट्या जगदपि समष्ट्या च विविधम् ॥
तपस्वी वेदान्ती वदतु वदनेनाद्वयकथा-मनेकान्तं कान्तं स्मरति हृदयेन त्वविकलम् ॥ ६ ॥

प्रमाणं नीलादौ क्षणपरिचयादौ च न तथा, वदन्नेकं ज्ञानं सुगततनयश्चित्रमपि च ॥
अनेकान्तं स्वान्ते स्मरति यदि नो तन्निजमत–ग्रहावेशक्लेशः क्षपयति तदीयं गुणगणम् ॥ ७ ॥
घटे चित्रं रूपं पृथगपि च नीलादिकमपि, ब्रुवाणौ हेतुं वाप्यजनकमपीष्टान्यविधया ॥
अनेकान्तं छेत्तुं बत कथमुभौ योगकणभुक्–तनूजौ स्वारूढद्रुमविटपतुल्यं प्रभवतः ॥ ८ ॥
परोक्षं मेयांशे किमपि म(मि)तिमात्रंशविषयेऽ–परोक्षं चैकं यः प्रभणति गुरुर्ज्ञानमवशः ॥
परोपि द्वैरूप्यं जगति कलयन् जैमिनिसुतः, कुतः स्याद्वादं यस्स्पृहयति न रुच्यार्थविमुखः ॥ ९ ॥
न यन्नाम ब्रूते समयविगमहीपरवशा, हृदा तु स्नेहं न त्यजति विपुलं यद्गुणकृतम् ॥
अनेकान्तस्याग्रे कलितविनया मौनरचना–दिदानीं सञ्जाता ननु नववधूर्वादिपरिषत् ॥ १० ॥
स्मिताक्षीणां मुक्तौ सकलविदि भुक्तौ च न भजे–न्मुनीन्द्रूनां धर्मोपकरणविधौ चापि भजनम् ॥
विहस्तो दिग्वासा यदि मदिरयेवावृतमतिः, प्रसिद्धैः सिद्धान्तैस्तदहह महद्वैरमुदयेत् ॥ ११ ॥
क्रियायां ज्ञाने च व्यवहृतिविधौ निश्चयपदे–ऽपवादे चोत्सर्गे कलितमिलितापेक्षणसु(मु)खैः ॥
हतैकान्तध्वान्तं मतमिदमनेकान्तमहसा, पवित्रं जैनेन्द्रं जयति सितवस्त्रैर्यतिवृषैः ॥ १२ ॥
इमं ग्रन्थं कृत्वा विषयविषविक्षेपकलुषं, फलं नान्यद् याचे किमपि भवभूतिप्रभृतिकम् ॥
इहाऽमुत्रापि स्तान्मम मतिरनेकान्तविषये, ध्रुवेत्येतद् याचे तदिदमनुयाचध्वमपरे ॥ १३ ॥

अनेकान्त-माहात्म्य-प्रदर्शिका प्रशस्तिः ॥ अनेकान्त-स्य सर्वद-र्शनसम्म-तत्वं च ॥

सूरिश्रीविजयादिदेवसुगुरोः पट्टाम्बराहर्मणौ, सूरिश्रीविजयादिसिंहसुगुरौ शक्रासनं भेजुषि ॥
सूरिश्रीविजयप्रभे श्रितवति प्राज्यं च राज्यं कृतो, ग्रन्थोऽयं वितनोतु कोविदकुले मोदं विनोदं तथा ॥१॥
वाचकपरिषत्तिलक-श्रीमत्कल्याणविजयगणिशिष्याः ॥ श्रीलाभविजयविबुधा, अभवन्विद्यावतां धुर्याः ॥२
श्रीजीतविजयविबुधा-स्तेषां शिष्यास्तपागणप्रथिताः ॥ तेषां सतीर्थमुख्याः, श्रीनयविजयाभिधा विबुधाः ॥३
तत्पादपद्ममधुपः, श्रीपद्मविजयानुजः ॥ सत्तर्कमकरोदेनं, यशोविजयवाचकः ॥ ४ ॥

॥ इति जगद्गुरुबिरुदधारकभट्टारकश्रीहीरविजयसूरिपुरन्दरशिष्यमुख्यषट्तर्कीविशारदमहोपाध्याय—श्रीकल्याणविजयगणिशिष्यतिलकपण्डितश्रीलाभविजयगणिशिष्यकोटीरपण्डितश्रीजीतविजयगणि—सतीर्थ्यालङ्कारपण्डितश्रीनयविजयगणिचरणकमलचञ्चरीकेण पण्डितश्रीपद्मविजयगणि—सहोदरेणोपाध्यायश्रीयशोविजयगणिना विरचितोऽनेकान्तव्यवस्थाभिधानः श्रीजैनतर्कग्रन्थः सम्पूर्णः ॥

प्रत्यक्षरं निरूप्यास्य, ग्रन्थमानं विनिश्चितम् ॥ त्रिसहस्री त्रिशती च, सप्तपञ्चाशदुत्तरा ॥ १ ॥